❁ दंसण मूलो धम्मो ❁ धर्म का मूल सम्यग्दर्शन है। ❁

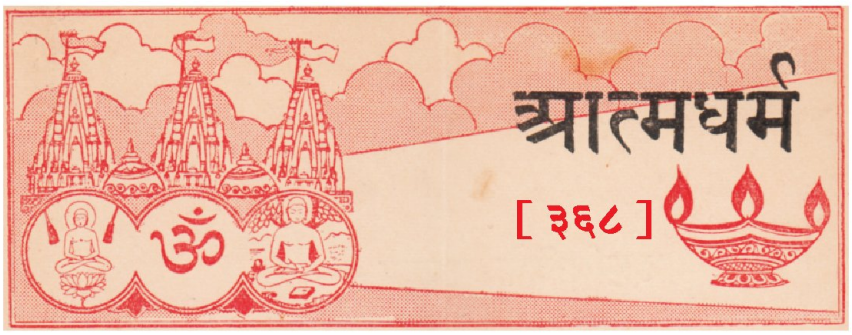

घट-घट में जिनराज और जिनधर्म का निवास है

घट घट अंतर जिन बसै, घट घट अंतर जैन।
मत मदिरा के पान सौं, मतवाला समुझै न॥

अर्थ—प्रत्येक हृदय में जिनराज और जिनधर्म का निवास है, परंतु मजहव के पक्षरूपी शराब के पी लेने से मतवाले लोग नहीं समझते।

भावार्थ—इस जगत में प्रत्येक आत्मा के हृदय में शरीर-मन-वाणी और पुण्य-पाप भाव से रहित, जिनराज-जिनेन्द्रस्वरूप भगवान आत्मा ही विराजमान है। चाहे वह स्त्री हो, पुरुष हो, नपुंसक हो, तिर्यंच हो, नारकी हो, देव हो—उन सबके अंतर में जिनराज स्वभावी आत्मा ही निवास कर रहा है। इस जिनेन्द्रस्वरूपी भगवान आत्मा का किसी भी परपदार्थ से सर्वथा संबंध नहीं है। इस जीव के साथ परपदार्थ का संयोग और वियोग अपने-अपने कारण से होता है। जीव किसी भी परपदार्थ का संयोग और वियोग कर सके, ऐसा वस्तु का स्वरूप नहीं है।

त्रैकालिक आत्मा स्वयं जिनस्वरूप है। ज्ञान-दर्शन-वीर्य-सुख उसका नित्य स्वभाव होने से वह जैनधर्म है। जैनधर्म वस्तु का स्वभाव है। 'वत्थु सहावो धम्मो' आत्मवस्तु के ज्ञान-दर्शनादि त्रिकाली धर्म हैं। ऐसे अनंत धर्मों को धारण करनेवाला धर्मी जिनेन्द्रस्वरूप भगवान आत्मा है। ऐसे आत्मा का आश्रय लेने पर जो निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र प्रगट हो, वह जिनशासन है, निश्चयमोक्षमार्ग है।

तंत्री—पुरुषोत्तमदास शिवलाल कामदार
वीर सं. २५०२ मार्गशीर्ष (वार्षिक चंदा रुपये ६=००) वर्ष ३१ अंक-८

शास्त्रों का अर्थ समझने की रीति

वीतराग सर्वज्ञ परम्परा में आप्तप्रणीत जैन शास्त्रों के अर्थ समझने की रीति पाँच प्रकार की है :—(१) शब्दार्थ (२) नयार्थ (३) मतार्थ (४) आगमार्थ (५) भावार्थ।

(१) शब्दार्थ—प्रकरण अनुसार वाक्य या शब्द का योग्य अर्थ समझना।

(२) नयार्थ—किस नय का वाक्य है ? उसमें भेद-निमित्तादि का उपचार बतलानेवाले व्यवहारनय का कथन है या वस्तुस्वरूप बतलानेवाले निश्चयनय का कथन है—उसका निर्णय करके अर्थ करना, वह नयार्थ है।

(३) मतार्थ—वस्तुस्वरूप से विपरीत ऐसे मतों का जिसप्रकार खंडन करता हो और स्याद्वाद मत का मंडन करता हो—उसप्रकार शास्त्र का कथन समझना, वह मतार्थ है।

(४) आगमार्थ—सिद्धांत में जो अर्थ प्रसिद्ध हो, वैसा अर्थ करना, वह आगमार्थ है।

(५) भावार्थ—शास्त्र कथन का तात्पर्य—सारांश, हेय-उपादेयरूप वस्तु क्या है, उसे जो बतलाये, वह भावार्थ है। निरंजन, ज्ञानमयी निज परमात्मद्रव्य ही एकमात्र उपादेय है; इसके सिवा निमित्त, राग, या विकल्प, व्यवहार, पर्याय, उपादेय आश्रय करने योग्य नहीं है, यह सर्व कथन का भावार्थ समझना।

जिसप्रकार ज्ञानावरणीयकर्म ज्ञान को रोकता है।

(१) ज्ञानावरणीयकर्म ज्ञान को रोकता है, यह शब्दार्थ हुआ, अक्षरार्थ हुआ।

(२) ज्ञानावरणीयकर्म ज्ञान को रोकता है, यह असद्भूत व्यवहारनय का कथन होने से असत्यार्थ है, यह नयार्थ है।

(३) इस मान्यता के विपरीत जो-जो मान्यता प्रचलित हो, वह यथार्थ नहीं है, यह मतार्थ है।

(४) ज्ञानावरणीयकर्म आत्मा के ज्ञान को रोकता है, ऐसा आगम में लिखा गया है परंतु यह कथन वहाँ असद्भूत व्यवहारनय से कहा गया है—इस सिद्धांत का अर्थ प्रसिद्ध है। यह आगमार्थ है।

(५) ज्ञानावरणीयकर्म से ज्ञान रुकता है, यह निमित्त का ज्ञान कराने के लिये ऐसा कथन किया गया है परंतु वास्तव में अपने भावआवरण के कारण ज्ञान रुकता है। ऐसा ज्ञान करके अपने ज्ञान-आनंदमय आत्मद्रव्य का आश्रय लेकर निरावरण केवलज्ञान प्रगट करना, जिससे ज्ञानावरणकर्म का बंध नहीं बंधेगा। यह भावार्थ है।

श्री चिद्विलास में लिखा है कि शब्दार्थ, अक्षरार्थ का सफलपना भावार्थ से है।

वार्षिक चंदा
छह रुपये
वर्ष ३१वाँ
अंक ८

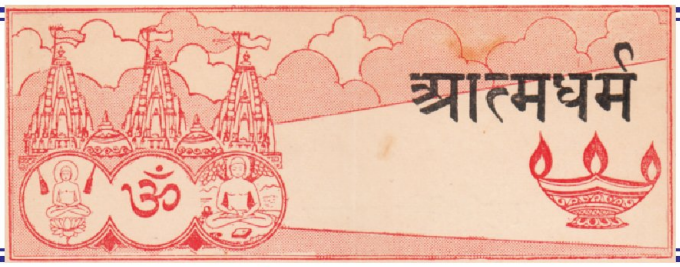

वीर सं. २५०२
मार्गशीर्ष
ई.स. १९७६
जनवरी

गणधरों और श्रुतधरों के द्वार
पूर्वापर विरोधरहित परम तत्त्व का विशद प्रकाश

भगवान कुंदकुंदाचार्यदेव ने श्री नियमसार की गाथा १८७ में निम्न प्रकार कहा है:—

सब दोष पूर्वापर रहित उपदेश श्री जिनदेव का।
मैं जान, अपनी भावना हित नियमसार सश्रुतस्वा॥

श्री कुंदकुंदाचार्यदेव कहते हैं कि मैंने जिनेन्द्र भगवान के उपदेश को बराबर जानकर, सारे शास्त्रों का अध्ययन कर और पूर्वापर विरोध रहित इस शास्त्र की रचना निजभावनानिमित्त से की है। ऐसा नहीं है कि इस शास्त्र में पूर्व में कुछ और कहा हो और बाद में कुछ और कहा है। सब जगह पूर्वापर दोषरहित निर्दोष बात कही है।

इस शास्त्र के टीकाकार वीतरागी भावलिंगी संत पद्मप्रभमलधारिदेव कहते हैं कि—

गुणधरगणधर रचितं श्रुतधर सन्तानतस्तु सुव्यक्तम्।
परमागमार्थसार्थं वक्तुममुं के वयं मन्दाः॥५॥

इस ग्रंथ की टीका मैंने (पद्मप्रभमलधारीदेव ने) नहीं की है परंतु यह टीका तो गुण के धारण करनेवाले गणधरों और श्रुतधरों की परंपरा से चली आ रही है, उसमें हम मंद बुद्धि कौन? देखिये! वीतरागी मुनिराज पद्मप्रभमलधारीदेव की कितनी महान निर्मानता है कि वे इस ग्रंथ के टीकाकार होने पर भी कहते हैं कि यह टीका गणधरों ने की है। उस टीका में यह भी लिखा है कि 'त्रिकाल निरावरण नित्य आनंद जिसका लक्षण है, ऐसा निरंजन निजपरम-पारिणामिकभावस्वरूप कारणपरमात्मा, वह निज आत्मा है। यह बात गणधरों से चली आ रही

है, मैं कहता हूँ ऐसा नहीं है।

इस ग्रंथ की गाथा १३५ की टीका में भी लिखा है कि —

निश्चयसम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूपी मोक्षमार्ग का हेतुभूत (आश्रयभूत) निज कारणपरमात्मा है। निज कारणपरमात्मा के आश्रय से जो निश्चयमोक्षमार्गरूपी पर्याय प्रगट हुई है, वह भी परद्रव्य है, ऐसा नियमसार गाथा ५० तथा टीका में कहा है। उसका कारण यह है कि निश्चयमोक्षमार्ग पर्याय होने से वह स्वद्रव्य की अपेक्षा परद्रव्य है। जब निश्चयमोक्षमार्गरूपी पर्याय को अपना परिणमन कहा जाता है, तब वह स्वसमय है क्योंकि वह अपने निज आत्मा का एकत्वरूप शुद्ध परिणमन है। इसलिए उस पर्याय को स्वसमय कहा गया है। जब त्रैकालिक आत्मद्रव्य को ध्येय बताना हो, तब निश्चयमोक्षमार्गरूपी निर्मल पर्याय को भी परद्रव्य कहा जाता है क्योंकि वह त्रैकालिक स्वद्रव्य न होने से आश्रय करनेयोग्य नहीं है। वह निश्चयसम्यग्दर्शन का ध्येयरूप विषय नहीं है। निश्चयसम्यग्दर्शन का विषय तो एकमात्र अभेद, ध्रुव निज आत्मा ही है। इस ध्रुव निज आत्मा में निर्मल पर्याय को मिलाकर ध्येय करेंगे तो दृष्टि विपरीत हो जायेगी।

निश्चयमोक्षमार्गरूपी पर्याय को परद्रव्य कहा क्योंकि उसके आश्रय से और उसमें से नवीन मोक्षमार्ग की पर्याय प्रगट नहीं होती है। जिसप्रकार परद्रव्य में से अपनी नवीन पर्याय प्रगट नहीं होती, उसीप्रकार निश्चयमोक्षमार्ग की पर्याय में से भी नवीन पर्याय प्रगट नहीं होती। इसलिए वह परद्रव्य है। शुद्ध चैतन्य ध्रुव आत्मा के आश्रय से ही नवीन मोक्षमार्ग की पर्याय प्रगट होती है, इसलिए वह स्वद्रव्य है।

पूज्य स्वामीजी के मुखारविंद से निकली हुई हृदय उर्मियाँ

पूज्य स्वामीजी ने कहा कि जब मैं वीतराग सर्वज्ञ परमात्मा के द्वारा कहे गये परमागम की गादी पर बैठता हूँ, तब मेरे मुख में से सर्वज्ञ परमात्मा ने जो त्रैकालिक निज आत्मतत्त्व की बात कही थी, वही बात निज अंतरात्मा के अनुभवपूर्वक वाणी में निकलती है और परमागम की गादी पर बैठते यही विचार आ जाता है कि बात आपकी (सर्वज्ञ परमात्मा की) चलेगी।

अज्ञानी जीव ने मिथ्यात्वादि भाव की चिरकाल भावना भायी परंतु सम्यक्त्वादि भाव की एक समय भी भावना नहीं भायी

श्री नियमसार गाथा ९० पर प्रवचन करते हुए पूज्य स्वामीजी कहते हैं कि इस अज्ञानी जीव ने सुचिरकाल से मिथ्यात्व, अव्रत, कषाय, प्रमाद और योग भावों की भावना भायी है परंतु एक समय भी इन भावों से रहित त्रैकालिक ध्रुव निरंजन निजपरमात्मतत्त्व की भावना नहीं भायी है। इस कारण से इस जीव को तिर्यंचादि चार गतियों में जन्म-मरण करके अनंत भव करने पड़े हैं। निज शुद्ध चैतन्य आत्मवस्तु की भावना करने से इस जीव को पर्याय में निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की प्राप्ति होती है तथा उसके द्वारा वह अल्प समय में मुक्ति की प्राप्ति कर लेता है।

मिथ्यात्व आदिक भाव की की जीव ने चिर भावना।
सम्यक्त्व आदिक भाव की पर की कभी न प्रभावना॥

इस गाथा में—जिसका मोक्ष समीप है, वह आसन्न भव्य जीव है, जिसका मोक्ष दूर है अर्थात् जिसको संसार समीप है, वह अनासन्न भव्य जीव है—ऐसे जीवों के पूर्व और बाद के परिणामों के स्वरूप का कथन कहते हैं।

श्री समयसार तथा नियमसारादि शास्त्रों में आस्रव के मिथ्यात्व, अव्रत, कषाय और योग ऐसे चार भेद कहे हैं, प्रमाद भाव को कषाय में गर्भित कर दिया है।

श्री तत्त्वार्थसूत्र में आस्रव के मिथ्यात्व, अव्रत, कषाय, प्रमाद और योग ऐसे पाँच भेद कहे हैं।

मिथ्यात्व, अव्रत, कषाय और योग का स्वरूप निम्न प्रकार है—

मिथ्यात्व—भगवान आत्मा शुद्ध चैतन्य का धाम है, उसका सम्यक्-श्रद्धान-ज्ञान न करना, और शुद्धात्मतत्त्व से विपरीत दया-दानादि के शुभभाव में धर्म

मानना, वह मिथ्यात्वभाव है।

अविरति—(१) चारित्र संबंधी निर्विकार स्वसंवेदन से विपरीत अव्रतपरिणामरूप विकार को अविरति कहते हैं। (२) हिंसादि पापों में तथा पाँच इंद्रिय और मन के विषयों में प्रवृत्तिरूप जीव परिणाम को अविरति कहते हैं।

कषाय—मिथ्यात्व तथा क्रोध, मान, माया, लोभरूप आत्मा की अशुद्ध परिणति को कषाय कहते हैं।

योग—मन, वचन, काय के अवलंबन से आत्मप्रदेशों के परिस्पंदन को योग कहते हैं।

मिथ्यात्वादि सामान्य आस्रव है और उनका विस्तार करने पर तेरह भेद होते हैं, क्योंकि 'मिच्छादिट्ठीआदी जीव सजोगिस्स चरमंसं' ऐसा (शास्त्र) वचन है; मिथ्यादृष्टि गुणस्थान से लेकर सयोगीगुणस्थान के अंतिम समय तक प्रत्यय (आस्रव) होते हैं। अपने ज्ञायकस्वभावी भगवान आत्मा को भूलकर इस जीव ने इन आस्रवभावों की अनंत बार भावना भायी है।

अब मुनिराज कहते हैं कि निरंजन निज परमात्मतत्त्व शरीर-मन-वाणी और दया-दानादि के शुभभाव तथा हिंसा-झूठ-चोरी आदि के अशुभभाव से सर्वथा भिन्न है, क्योंकि पुण्य-पापभाव तो अंजनरूप है और भगवान आत्मा तो निरंजन-निर्मल शुद्ध चिद्घन है। ऐसे निज परमात्मतत्त्व की निर्विकल्प प्रतीति बिना इस जीव ने अनंत बार पंच महाव्रत का पालन किया, गृहस्थी छोड़ी, हजारों रानियों को छोड़ी, अरबों रुपयों की पैदाइश को छोड़कर द्रव्यलिंगी साधु हुआ परंतु यह सब भावना राग की होने से पुण्य बंध का कारण है। इन शुभराग की क्रियाओं से धर्म नहीं होता है। इस जीव ने त्रैकालिक शुद्ध आत्मा की श्रद्धा को छोड़कर सच्चे देवादि, शुभराग और आस्रवभाव की श्रद्धा की परंतु इन श्रद्धाओं से संसार का अंत नहीं आया है, इसलिए वे सब श्रद्धायें छोड़ने योग्य हैं और अपने निरंजन निजपरमात्मतत्त्व की निर्विकल्प श्रद्धा करनेयोग्य है, जिससे निश्चय सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है। इस जीव ने पुण्यभाव की अनंत बार भावना की परंतु पुण्य-पाप से रहित निरंजन निजपरमात्मतत्त्व की श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र सहित की भावना अनंत काल में एक समय भी नहीं की है।

भगवान आत्मा कैसा है, वह कहते हैं। जिसप्रकार नारियल में सफेद मीठा गोला है, वह ऊपर की छाल, नेरली और रतास से भिन्न है। जब खोपरापाक करते हैं, तब मीठा गोला के ऊपर जो रतास लगी है, वह भी निकाल देते हैं अथवा सकरकंद, वह ऊपर की छाल से रहित अंतर में मीठा सफेद है। उसीप्रकार निरंजन-निज-परमात्मतत्त्व, वह शरीर जो छाला है, ज्ञानावरणादि आठ कर्म जो नरेली है और दया-दानादि के पुण्यभाव वह रतास है, उन सबसे रहित है। ऐसे भगवान आत्मा की श्रद्धा से रहित जो भव्य जीव है, वे अनासन्नभव्य जीव हैं। जिनको मोक्ष नहीं है, ऐसी योग्यता वाले जीवों ने मिथ्यात्वभाव, अव्रतभाव, कषायभाव, योगभाव और इन चारों भावों के १३ भेदरूपी आस्रव भावों को अनंत-अनंत काल से भाये हैं।

भगवान आत्मा चैतन्य निरंजन-निराकार तेज का पुंज है और पुण्य-पापभाव परसन्मुखभाव होने से मलिन हैं। इन भावों की अनादिकाल से भावना भायी है परंतु निर्मलानंद-आत्मा के सन्मुख होकर उसकी भावना नहीं की है। जबकि इस अज्ञानी ने ज्ञान-आनंदस्वभाव के विरुद्ध पुण्य-पाप भाव की भावना की है। दया-दानादि का शुभभाव धर्म है, ऐसा अज्ञानी ने मान रखा है। इसलिये उसकी भावना की परंतु निरंजन निजपरमात्मतत्त्व की भावना नहीं की है। इसकी भावना से रहित होने के कारण इस जीव को तिर्यंचादि गतियों में अनंत भव करने पड़े हैं। निज शुद्ध चैतन्य आत्मवस्तु की भावना करने से इस जीव को पर्याय में निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की प्राप्ति होती है और उसके द्वारा वह अल्प समय में मुक्ति की प्राप्ति कर लेता है।

अब तक श्रद्धान से रहित जीव की बात की, अब सम्यक्चारित्र से रहित जीव की बात कहते हैं—

जिसप्रकार पशु घास चरते हैं, उसीप्रकार आत्मा अतीन्द्रिय आनंदस्वरूप है, उसमें चरना-रमना-जमना एवं लीनता करना, वह सम्यक्चारित्र है। दया-दानादि का शुभभाव, वह पराश्रितभाव होने से अचारित्र है और चिदानंद भगवान आत्मा की निर्विकल्प प्रतीतिपूर्वक उसमें रमणता करना, वह परम नैष्कर्म्यरूप-चारित्र है। ऐसे वीतरागचारित्र को अज्ञानी जीव ने अनादि से आज तक एक समय भी प्राप्त नहीं किया

है। जो जीव अतीन्द्रिय आनंदस्वरूप आत्मा का अनुभव नहीं करते और शुभराग से धर्म होना मानते हैं, वे जीव स्वरूप-शून्य हैं अर्थात् मिथ्यादृष्टि हैं।

जिस जीव ने दृष्टि में चैतन्य शुद्ध ध्रुव आत्मा को नहीं लिया और निष्कर्म चारित्र प्रगट नहीं किया, वे जीव बहिरात्मा होने से स्वरूप से शून्य हैं। ज्ञायकत्वभावी आत्मा से मिथ्यात्वादि आस्रवभाव भिन्न है, बाह्य भाव है। इन भावों को अपना मानकर उसकी भावना करनेवाला जीव बहिरात्मा है। निज शुद्ध चैतन्यघन निर्मलानंद भगवान आत्मा की निर्विकल्प श्रद्धा करना, वह निश्चय सम्यग्दर्शन होने से अंतरात्मा है, उसकी भावना नहीं की और उससे भिन्न शरीर-कर्म-स्त्री-कुटुंब-पैसादि की भावना की, वह बहिरात्मपना है। जो वस्तु तेरी हो, वह तुझसे कभी पृथक् नहीं हो सकती। पुण्य-पापभाव, वह तेरे से पृथक् वस्तु है, इसलिये वे अपनी पर्याय में से आत्मा के सन्मुख होकर, भिन्न किये जा सकते हैं। जिसप्रकार बम्बई में एक सेठ था, जब उसके लड़के की शादी हुई थी, तब उस सेठ ने शादी के उपलक्ष्य में पानी भरने के ताँबे के घड़े भेंट में दिये थे परंतु जब उसके लड़के की पत्नी को बालक पैदा होने का समय आया, तब दवाखाना में भर्ती करने के लिए पैसा नहीं था, ऐसी स्थिति हो गयी थी। उसीप्रकार पुण्यभाव अपनी वस्तु नहीं है परंतु परवस्तु होने से उसके फल में जो पैसादि का संयोग होता है, वे भी पुण्यभाव के चले जाने पर, चले जाते हैं, और शुद्ध चैतन्य आत्मा अपने पास ज्यों का त्यों सदा रहा हुआ है, इसलिये उसके सन्मुख होकर शुद्धरूप परिणमन करना, वह जीव का परम कर्तव्य है।

ज्ञान-आनंद की मूर्ति भगवान आत्मा की निर्विकल्प प्रतीति, वह सम्यग्दर्शन; उसका निर्विकल्प स्वसंवेदनज्ञान, वह सम्यग्ज्ञान और उसमें लीन रहना, वह सम्यक्चारित्र है, इसकी इस जीव ने अनादि से आज तक भावना नहीं की है परंतु पुण्य-पाप भाव की भावना की है, इसलिये पुण्य-पाप भाव को अपना स्वरूप माननेवाला जीव मिथ्यादृष्टि है।

त्रैकालिक आत्मा ज्ञान-आनंद की अनंत शक्तिवाला होने से वह पुण्य-पाप के भाव तथा उसके फल से रहित है। ऐसे आत्मा की निर्विकल्प श्रद्धा-ज्ञान और रमणता

करनेवाला अति आसन्न भव्य जीव है। अति-आसन्न भव्य जीव अर्थात् जिसका संसार अल्पकाल में छूट जानेवाला है।

इस (अति निकट भव्य) जीव को सम्यग्ज्ञान की भावना किसप्रकार से होती है, ऐसा प्रश्न किया जाये तो (आचार्यवर) श्री गुणभद्रस्वामी ने (आत्मानुशासन में २३८वें श्लोक द्वारा) कहा है कि—

भावयामि भवावर्ते भावनाः प्रागभाविताः।
भावये भाविता नेति भवाभावाय भावनाः॥

श्लोकार्थ—भवावर्त में पहले न भायी हुई भावनाएँ (अब) मैं भाता हूँ। वे भावनाएँ (पहले) न भायी होने से मैं भव के अभाव के लिये उन्हें भाता हूँ (कारण कि भव का अभाव तो भवभ्रमण के कारणभूत भावनाओं से विरुद्ध प्रकार की, पहले न भायी हुई ऐसी अपूर्व भावनाओं से ही होता है)।

इस श्लोक में 'भ' शब्द का प्रयोग नव बार किया गया है। जिसप्रकार रहट में पानी नीचे से भरता है और ऊपर खाली होता है, इसप्रकार एक के बाद एक क्रम चलता रहता है। उसीप्रकार यह अज्ञानी जीव अनादि काल से ८४ लाख योनियों में परिभ्रमण करके अनंत भव करते हुआ चला आ रहा है। इस जीव ने कभी पशु का, कभी सेठ का और कभी गरीब का भव किया। ऐसे अनंत भव एक के बाद एक किये जा रहा है परंतु जब मुक्तदशा प्रगट हो जायेगी, तब फिर इसे भव धारण नहीं करना पड़ेगा, क्योंकि मोक्षदशा प्रगट होने पर जीव को पुनः जन्म-मरण धारण नहीं करने पड़ते हैं। जिसप्रकार चने को एक बार सेंक लेने पर उसे पुनः बोने पर वह नहीं उगता। उसीप्रकार एक बार मोक्षदशा प्रगट हो जाने पर जीव को फिर से संसार में जन्म धारण नहीं करना पड़ता है। जिसने अनादि की अज्ञान और राग-द्वेष प्रवृत्ति का नाश किया है, उसे पुनः भव नहीं होता।

जिसप्रकार नट नाचता-नाचता गुलांट खा जाता है, उसीप्रकार अनादिकाल से मैं पुण्य-पाप के भाव में नाचा अर्थात् अनादि से उसी की भावना की परंतु मेरा त्रैकालिक स्वरूप जानकर, उसके सन्मुख होकर शुद्ध परिणमन करने की भावना कभी

नहीं की, इसलिये अब मैं गुलांट खाकर शुद्ध चैतन्यस्वरूप आत्मा में सम्यग्श्रद्धा-ज्ञानपूर्वक रमणता करने की भावना भाता हूँ। इसका नाम ही परमार्थप्रतिक्रमण है।

अनादि काल से मैंने पुण्य-पापरूपी भाव से हटकर निरंजन-निराकार भगवान आत्मा की भावना नहीं की, अब मैं चार गति के भव का अभाव करने के लिये उसकी (चैतन्यस्वरूपी आत्मा की) भावना भाता हूँ। चार गति के जो भव हैं, वे पुण्य-पापरूपी अपराध का ही फल है। अतः उनका अभाव करने के लिये शुद्ध चैतन्य आत्मा में एकाग्रता करके सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र प्रगट करता हूँ। जिसप्रकार छाछ को बिलोने से मक्खन निकलता है, उसीप्रकार चैतन्य आनंदघन भगवान आत्मा की भावना करने से रागादिक और उसके फल में जो चार गति के भव होते थे, उसका अभाव हो जाता है।

शुद्ध चैतन्य आत्मा की भावना भव का अभाव करने के लिये भायी जाती है, क्योंकि चारगति के भव करना, वह कलंक है। जिसप्रकार गधे के सड़े हुए चमड़े में मैसूरपाकरूपी मिठाई रखना शोभा नहीं देता है, उसीप्रकार इस हाड-माँसरूपी देह में शुद्ध चैतन्य आत्मा को रखना, वह कलंक है। शरीर तो जड़-अचेतन और त्रैकालिक आत्मा चैतन्य आनंदघन है।—मैंने इस शुद्ध चैतन्यघन आत्मा की भावना कभी इस भवचक्र में नहीं की; इसलिये अब भव का अभाव करने के लिये उसकी भावना भाता हूँ। मेरी शुद्ध चैतन्य आत्मवस्तु में भव नहीं और भव का भाव भी नहीं है, ऐसी आत्मवस्तु का आश्रय करके चारगति के भव का नाश करता हूँ, क्योंकि रागादि की भावना तो भवभ्रमण का ही कारण है।

अनादि काल से ज्ञान-आनंदस्वरूप भगवान आत्मा के सन्मुख होकर सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप वीतरागदशा प्रगट नहीं की, अब चारगति के भव का अभाव करने के लिये उसकी ही भावना भाता है।

धर्मी जीव को शुद्ध आत्मा में लीनता करने से पर्याय में अतीन्द्रिय सुंदर आनंदरस झरता है।

निर्वृतेन्द्रियलौल्यानां तत्त्वलोलुपचेतसाम्।
सुंदरानन्दनिष्यन्दं जायते तत्त्वमुत्तमम्॥

श्लोकार्थ—इंद्रियलोलुपता जिनको निवृत्त हुई है और तत्त्वलोलुप तत्त्व प्राप्ति के लिये अत्यंत उत्सुक जिनका चित्त है, उन्हें सुंदर-आनंद झरता उत्तम तत्त्व प्रगट होता है।

[नियमसार, श्लोक २३५]

इस श्लोक पर प्रवचन करते हुए पूज्य स्वामीजी ने कहा कि भगवान आत्मा अतीन्द्रिय ज्ञान-आनंदस्वरूप है, धर्मी जीव उसके सन्मुख होकर उसमें एकाग्रता करे तो वह पाँच इंदियों के विषयों की लोलुपता से निवृत्त हो जाता है। हिंसा, झूठ, चोरी आदि का शुभभाव पापलोलुपतामय होने से संसार प्रवृत्ति है और दया-दानादि का शुभभाव पुण्यलोलपतामय होने से वह भी संसारप्रवृत्ति है। उन शुभ-अशुभभावों की लोलुपता से रहित होकर धर्मी जीव का चित्त अतीन्द्रिय आनंद की प्राप्ति के लिये अत्यंत उत्सुक हुआ है, उन्होंने अपनी निर्मल पर्याय को सुंदर आनंदस्वरूप भगवान आत्मा में एकाग्र कर दी है, जिसके फलस्वरूप पर्याय में सुंदर आनंदरस झरना प्रारंभ हो गया है। जिसप्रकार पर्वत में से पानी के झरने झरते हैं, उसीप्रकार निज शुद्ध आनंदस्वरूपी आत्मा में सम्यक् श्रद्धा-ज्ञानपूर्वक लीनता करने से पर्याय में अतीन्द्रिय सुंदर आनंदरस झरता है, इसका नाम निश्चयधर्म है, निश्चयमोक्षमार्ग है और इसे निश्चय परमभक्ति भी कहते हैं।

त्रैकालिक चैतन्य तेज का पुंज भगवान आत्मा है, उसकी दृष्टि करके उसमें रमणतापूर्वक निर्मल परिणति प्रगट करना, वह सच्चा उत्तम तत्त्व है। देव-शास्त्र-गुरु की भक्ति का भाव शुभराग होने से पुण्यतत्त्व है, उसमें रुचि करना, वह इंद्रियलोलुपता है। धर्मी जीव को परसन्मुख की इंद्रियलोलुपता चली गयी है और स्वसन्मुख की लोलुपता (अति उत्सुकता) प्रगट हुई है। श्री नियमसार की गाथा ३ में लिखा है कि 'नियम से करने योग्य तो निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र है' और वह नियम निर्वाण का कारण है, अतः उनको प्राप्त कर लेना ही इस मानव जीवन का महान कर्तव्य है। ऐसा नियम ज्ञायकस्वभावी भगवान आत्मा का आश्रय से ही प्रगट होता है।❀

वीतरागी व्यक्तित्व : भगवान महावीर

[डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल, जयपुर]

भगवान महावीर का जीवन घटना प्रधान नहीं परंतु राग-द्वेष का संपूर्ण रूप से अभाव करके, अंतिम घट (देह) को त्याग करके वे मुक्त हो गये, ऐसी एक अभूतपूर्व घटना उनके जीवन में घटी—उसका सुंदर एवं रसप्रद वर्णन इस लेख में दिया गया है।

भगवान महावीर द्वारा प्रतिपादित सिद्धांत जितने गूढ़, गंभीर व ग्राह्य हैं; उनका वर्तमान जीवन (भव) उतना ही सादा, सरल एवं सपाट है; उसमें विविधताओं को कोई स्थान प्राप्त नहीं है। उनका वर्तमान जीवन घटना-बहुल नहीं है। घटनाओं में उनके व्यक्तित्व को खोजना भी व्यर्थ है।

घटना समग्र जीवन के एक खंड पर प्रकाश डालती है। घटनाओं में जीवन को देखना, उसे खंडों में बाँटना है। भगवान महावीर का व्यक्तित्व अखंड है, अविभाज्य है, उसका विभाजन संभव नहीं है। उनके व्यक्तित्व को घटनाओं में बाँटना, उनके व्यक्तित्व को खंडित करना है। अखंडित दर्पण में बिंब अखंड और विशाल प्रतिबिम्बित होते हैं, किंतु काँच के टूट जाने पर प्रतिबिम्ब भी अनेक और क्षुद्र हो जाते हैं। उनकी एकता और विशालता खंडित हो जाती है। वे अपना वास्तविक अर्थ खो देते हैं।

भगवान महावीर के आकाशवत् विशाल और सागर से गंभीर व्यक्तित्व को बालक वर्द्धमान की बाल-सुलभ क्रीड़ाओं से जोड़ने पर उनकी गरिमा बढ़ती नहीं, वरन् खंडित होती है। सन्मति शब्द का कितना भी महान अर्थ क्यों न हो, यह केवलज्ञान की विराटता को अपने में नहीं समेट सकता। केवलज्ञानी के लिये सन्मति नाम छोटा ही पडेगा, ओछा ही रहेगा। वह केवलज्ञानी की महानता व्यक्त करने में समर्थ नहीं हो सकता। जिनकी वाणी एवं दर्शन ने अनेकों की शंकायें समाप्त की,

अनेकों को सन्मार्ग दिखाया हो, सत्पथ में लगाया हो; उनकी महानता को किसी एक की शंका को समाप्त करनेवाली घटना कुछ विशेष व्यक्त नहीं कर सकती।

बढ़ते तो अपूर्ण हैं, जो पूर्णता को प्राप्त हो चुका हो; उसे वर्द्धमान कहना कहाँ तक सार्थक हो सकता है। इसीप्रकार महावीर की वीरता को साँप और हाथी वाली घटनाओं से नापना कहाँ तक संभव है; यह एक विचारने की बात है।

यद्यपि महावीर के जीवन संबंधी उक्त घटनाएँ शास्त्रों में वर्णित हैं, तथापि वे बालक वर्द्धमान को वृद्धिंगत बताती हैं, भगवान महावीर को नहीं। साँप से न डरना बालक वर्द्धमान के लिये गौरव की बात हो सकती है, हाथी को वश में करना राजकुमार वर्द्धमान के लिये प्रशंसनीय कार्य हो सकता है, भगवान महावीर के लिये नहीं। आचार्यों ने उन्हें यथास्थान ही इंगित किया है। वन विहारी पूर्ण अभय को प्राप्त महावीर एवं पूर्ण वीतरागी, सर्व स्वातंत्र्य के उद्घोषक तीर्थंकर भगवान महावीर के लिए साँप से न डरना, हाथी को काबू में रखना क्या महत्व रखते हैं।

जिसप्रकार बालक के जन्म के साथ इष्ट मित्र व संबंधी-जन वस्त्रादि लाते हैं और कभी-कभी तो सैकड़ों जोड़ी वस्त्र बालक को इकट्ठे हो जाते हैं। लाते तो सभी बालक के अनुरूप ही हैं, पर वे सब कपड़े तो बालक को पहिनाये नहीं जा सकते। बालक दिन-प्रतिदिन बढ़ता जाता है, वस्त्र तो बढ़ते नहीं। जब बालक २०-२५ वर्ष का हो जावे, तब कोई माँ उन्हें वही वस्त्र पहिनाने की सोचे, जो जन्म के समय आये थे और जिनका प्रयोग नहीं कर पाया है, तो क्या वे वस्त्र २०-२५ वर्षीय युवक को आ पायेंगे ? नहीं आने पर वस्त्र लानेवालों को भला-बुरा कहें तो यह उसकी ही मूर्खता मानी जायेगी, वस्त्र लानेवालों की नहीं। इसीप्रकार महावीर के वर्द्धमान, वीर, अतिवीर आदि नाम उन्हें उस समय दिये गये थे, जब वे नित्य बढ़ रहे थे, सन्मति (मति-ज्ञानी) थे, बालक थे, राजकुमार थे। उन्हीं घटनाओं और नामों को लेकर हम तीर्थंकर भगवान महावीर को समझना चाहें, तो यह हमारी बुद्धि की ही कमी होगी, न कि लिखनेवाले आचार्यों की। वे नाम, वे वीरता की चर्चाएँ यथासमय सार्थक थीं।

तीर्थंकर महावीर के विराट व्यक्तित्व को समझने के लिये हमें उन्हें विरागी

वीतरागी दृष्टिकोण से देखना होगा। वे धर्मक्षेत्र के वीर, अतिवीर और महावीर थे, युद्धक्षेत्र के नहीं। युद्धक्षेत्र और धर्मक्षेत्र में बहुत बड़ा अंतर है। युद्धक्षेत्र में शत्रु का नाश किया जाता है और धर्मक्षेत्र में शत्रुता का, युद्धक्षेत्र में पर को जीता जाता है और धर्मक्षेत्र में स्वयं को। युद्धक्षेत्र में पर को मारा जाता है और धर्मक्षेत्र में अपने विकारों को।

महावीर की वीरता में दौड़-धूप नहीं, उछल-कूद नहीं, मार-काट नहीं, हाहाकार नहीं, अनंत शांति है। उनके व्यक्तित्व में वैभव की नहीं, वीतराग-विज्ञान की विराटता है।

एक बात यह भी तो है कि दुर्घटनाएँ या तो पाप के उदय से घटती हैं या पापभाव के कारण। जिसके जीवन में न पाप का उदय हो और न पापभाव हो, तो फिर दुर्घटनाएँ कैसे घटेंगी, क्यों घटेंगी ? अनिष्ट संयोग पाप के उदय के बिना संभव नहीं है तथा वैभव और भोगों में उलझाव पापभाव के बिना असंभव है। भोग के भावरूप पापभाव के सद्भाव में घटनेवाली घटनाओं में शादी एक ऐसी दुर्घटना है, जिसके घट जाने पर दुर्घटनाओं का एक कभी न समाप्त होनेवाला सिलसिला आरंभ हो जाता है। सौभाग्य से महावीर के जीवन में यह दुर्घटना न घट सकी। एक कारण यह भी है कि उनका जीवन घटना प्रधान नहीं है।

लोग कहते हैं कि बचपन में किसके साथ क्या नहीं घटता, किसके घुटने नहीं फूटते, किसके दाँत नहीं टूटते ? महावीर के साथ भी निश्चितरूप से यह सब कुछ घटा ही होगा ? भले ही आचार्यों ने न लिखा हो। पर भाईसाहब ! दुर्घटनाएँ बचपन से नहीं, बचपने से घटती हैं, महावीर के बचपन तो आया था, पर बचपना उनमें नहीं था। अतः घुटने फूटने और दाँत टूटने का सवाल ही नहीं उठता। वे तो बचपन से ही सरल, शांत एवं चिंतनशील व्यक्तित्व के धनी थे। उपद्रव करना उनके स्वभाव में ही न था और बिना उपद्रव के दाँत टूटना, फूटना संभव नहीं।

कुछ का कहना यह भी है कि न सही बचपन में पर जवानी तो घटनाओं का ही काल है। जवानी में तो कुछ न कुछ घटा ही होगा। पर बंधुवर ! जवानी में दुर्घटनाएँ उनके साथ घटती हैं, जिन पर जवानी चढ़ती है, महावीर तो जवानी पर चढ़े थे, जवानी

उन पर नहीं। जवानी चढ़ने का अर्थ है—यौवन सम्बन्धी विकृतियाँ-उत्पन्न होना और जवानी पर चढ़ने का तात्पर्य शारीरिक सौष्ठव का पूर्णता को प्राप्त होना है।

राग संबंधी विकृति भोगों में प्रगट होती है और द्वेष संबंधी विद्रोह में, न वे रागी थे, न द्वेषी। अत: न वे भोगी थे और न ही द्रोही।

महावीर ने विद्रोह नहीं, अद्रोह किया था। विद्रोह, द्रोह का ही एक भेद है। द्रोह स्वयं एक विकार है। उन्होंने न स्वयं से द्रोह किया, न दूसरों से। उन्होंने द्रोह का अभाव किया था, अत: उन्हें अद्रोही ही कहा जा सकता है, विद्रोही नहीं। द्रोह-द्रोह को उत्पन्न करता है, द्रोह से अद्रोह का जन्म नहीं हो सकता। उन्होंने किसी के प्रति विद्रोह करके घर नहीं छोड़ा था। उनका त्याग विद्रोह मूलक न था। उनके त्याग और संयम के कारणों को दूसरों में खोजना महावीर के साथ अन्याय है। वे 'न काहू से दोस्ती न काहू से वैर' के रास्ते पर चले थे।

वीतरागी-पथ पर चलनेवाले विरागी महावीर को समझने के लिये उनके अंतर में झांकना होगा। उनका वैराग्य देश-काल की परिस्थितियों से उत्पन्न नहीं हुआ था। उसके कारण उनके अंतरंग में विद्यमान थे। उनका वैराग्य परोपजीवी नहीं था। जो वैराग्य किन्हीं विशिष्ट परिस्थितियों के कारण उत्पन्न होता है, वह क्षण-जीवी होता है। परिस्थितियों के बदलते ही, उसका समाप्त हो जाना संभव है।

यदि देश-काल की परिस्थितियाँ महावीर के अनुकूल होती तो क्या वे वैराग्य धारण न करते; गृहस्थी बसाते; राज्य करते? नहीं, कदापि नहीं। और परिस्थितियाँ उनके प्रतिकूल थीं ही कब? तीर्थंकर महान पुण्यशाली महापुरुष होते हैं, अत: परिस्थितियों का प्रतिकूल होना संभव नहीं था।

वैराग्य या विराग राग के अभाव का नाम है, विद्रोह का नाम नहीं। वे वैरागी राग के अभाव के कारण बने थे, न कि विद्रोह के कारण। महावीर वैरागी राजकुमार थे, न कि विद्रोही। महावीर जैसे अद्रोही महा मानव में विद्रोज खोज लेना अभूतपूर्व खोज बुद्धि के परिणाम हैं। बालू में से तेल निकाल लेने जैसा यत्न है। बन्ध्या के पुत्र के विवाह वर्णनवत् कल्पना की उड़ानें हैं, जिनका न ओर है, न छोर।

घर में जो कुछ घटता है, अपनी ओर से घटता है, पर वन में तो बाहर से बहुत कुछ घट जाने के प्रसंग रहते हैं क्योंकि घर में बाहर के आक्रमण से सुरक्षा का प्रबंध प्राय: रहता है। यदि कोई उत्पात हो, तो अंतर के विकारों के कारण ही होता देखा जाता है, पर वन में बाहर से सुरक्षा-प्रबंध का अभाव होने से घटनाएँ घटने की संभावना अधिक रहती है। माना कि महावीर का अंतर विशुद्ध था। अत: घर में कुछ न घटा, पर वन में घटा ही होगा ?

हाँ! हाँ! अवश्य घटा था, पर लोक जैसे घटने को घटना मानता है, वैसा कुछ नहीं घटा था। राग-द्वेष घट गये थे, तब तो वे वन को गये ही थे। क्या राग-द्वेष का घटना कोई घटना नहीं है ? पर बहिर्मुखी दृष्टिवालों को राग-द्वेष घटने में कुछ घटना सा नहीं लगता। यदि तिजोरी में से लाख, दो लाख रुपया घट जायें, शरीर में से कुछ खून घट जाये, आँख, नाक, कान घट जाये, कट जाये तो इसे बहुत बड़ी घटना लगती है, पर राग-द्वेष घट जायें तो इसे घटना ही नहीं लगता। वन में ही तो महावीर रागी से वीतरागी बने थे, अल्प ज्ञानी से पूर्ण ज्ञानी बने थे। सर्वज्ञता और तीर्थंकरत्व वन में ही तो पाया था। क्या यह घटनाएँ छोटी हैं ? क्या कम हैं ? इससे बड़ी भी कोई घटना हो सकती है ? मानव से भगवान बन जाना कोई छोटी घटना है ? पर जगत को तो इसमें कोई घटना सी ही नहीं लगती। तोड़-फोड़ की रुचिवाले जगत् को तोड़-फोड़ में ही घटना नजर आती है, अंतर में शांति से चाहे जो कुछ घट जाये, उसे वह घटना सा नहीं लगता है। अंतर में जो कुछ प्रतिपल घट रहा है, वह तो उसे दिखाई नहीं देता, बाहर में कुछ हलचल हों, तभी कुछ घटा सा लगता है।

जब तक देवांगनाएँ लुभाने को न आवें और उनके लुभाने पर भी कोई महापुरुष न डिगे तब तक हमें उसकी विरागता में शंका बनी रहती है। जब तक कोई पत्थर न बरसायें, उपद्रव न करे और उपद्रव में भी कोई महात्मा शांत न बना रहे, तब तक हमें उसकी वीत-द्वेषता समझ में नहीं आती। यदि प्रबल पुण्योदय से किसी महात्मा के इसप्रकार के प्रतिकूल संयोग न मिलें तो क्या वह वीतरागी और वीतद्वेषी नहीं बन सकता, क्या वीतरागी और वीतद्वेषी बनने के लिये देवांगनाओं का डिगाना और राक्षसों का उपद्रव आवश्यक है ? क्या वीतरागता इन काल्पनिक घटनाओं के

बिना प्राप्त और संप्रेषित नहीं की जा सकती है ? क्या मुझे क्षमाशील होने के लिये सामनेवालों का गाली देना, मुझे सताना जरूरी है ? क्या उसके सताये बिना मैं शांत नहीं हो सकता ? ये कुछ ऐसे प्रश्न हैं, जो बाह्य घटनाओं की कमी के कारण महावीर के चरित्र में रूखापन माननेवालों और चिंतित होनेवालों को विचारणीय हैं।

वन में जाने से पूर्व ही महावीर बहुत कुछ वीतरागी हो गये थे। रहा—सहा राग भी तोड़, पूर्ण वीतरागी बनमें, नग्न दिगंबर हो वन को चल पड़े थे। उनके लिये वन और नगर में कोई भेद नहीं रहा था। सब कुछ छूट गया था, वे सबसे टूट गये थे। उन्होंने सब कुछ छोड़ा था; कुछ ओढ़ा न था। वे साधु बने नहीं, हो गये थे। साधु बनने में वेष पलटना पड़ता है, साधु होने में स्वयं ही पलट जाता है। स्वयं के बदल जाने पर वेष भी सहज ही बदल जाता है। वेष बदल क्या जाता है, सहज वेष हो जाता है, यथाजात वेष हो जाता है; जैसा पैदा हुआ था, वही रह जाता है, बाकी सब छूट जाता है।

वस्तुतः साधु की कोई ड्रेस ही नहीं है, सब ड्रेसों का त्याग ही साधु का वेष है। ड्रेस बदलने से साधुता नहीं आती, साधुता आने पर ड्रेस छूट जाती है। यथाजातरूप (नग्न) ही सहज वेष है और सब वेष तो श्रमसाध्य हैं, धारण करनेरूप हैं, वे साधु के वेष नहीं हो सकते क्योंकि उनमें गाँठ है, उनमें गाँठ-बाँधना अनिवार्य है, साधुता बंधन नहीं है। उसमें सर्व-बंधनों की अस्वीकृति है। साधु का कोई वेष नहीं होता, नग्नता कोई वेष नहीं। वेष साज-संभार है, साधु को सजने-संवरने की फुर्सत ही कहाँ है ? उसका सजने का भाव ही चला गया है। सजने में 'मैं दूसरों को कैसा लगता हूँ ?' का भाव प्रमुख रहता है। साधु को दूसरों से प्रयोजन ही नहीं है, वह जैसा है वैसा ही है। वह अपने में ऐसा मग्न है कि दूसरों के बारे में सोचने का काम ही नहीं। दूसरे उसके बारे में क्या सोचते हैं, इसकी उसे परवाह ही नहीं। सर्व वेष शृंगार के सूचक हैं। साधु को शृंगार की आवश्यकता ही नहीं। अतः उसका कोई वेष नहीं होता।

दिगम्बर कोई वेष नहीं है, सम्प्रदाय नहीं है, वस्तु का स्वरूप है। पर हम वेषों को देखने के इतने आदी हो गये हैं कि वेष के बिना सोच नहीं सकते। हमारी भाषा वेषों की भाषा हो गयी है। अतः हमारे लिये दिगम्बर भी वेष हो गया है। हो क्या

गया—कहा जाने लगा है। सब वेषों में कुछ उतारना पड़ता है और कुछ पहिनना होता है, पर इसमें छोड़ना ही छोड़ना है, ओढ़ना कुछ भी नहीं है। छोड़ना भी क्या उधेड़ना है, छूटना है। अंदर से सब कुछ छूट गया है, देह भी छूट गयी है, पर बाहर से अभी वस्त्र ही छूटे हैं, देह छूटने में अभी कुछ समय लग सकता है, पर वह भी छूटता है, क्योंकि उसके प्रति भी जो राग था, वह टूट चुका है। देह रह गयी है तो रह गयी है, जब छूटेगी तब छूट जायेगी, पर उसकी भी परवाह छूट गयी है।

महावीर मुनिराज वर्द्धमान नगर छोड़ वन में चले गये। पर वे वन में भी गये कहाँ हैं? वे तो अपने में चले गये हैं, उनका वन में भी अपनत्व कहाँ है? उन्हें वनवासी कहना भी उपचार है, वे वन में भी कहाँ रहे? वे तो आत्मवासी हैं। न उन्हें नगर से लगाव है, न वन से; वे तो दोनों से अलग हो गये हैं, उनका तो पर से अलगाव ही अलगाव है।

रागी वन में जायेगा तो कुटिया बनायेगा, वहाँ भी घर बसायेगा, ग्राम और नगर बसायेगा, भले ही उसका नाम कुछ भी हो, है तो वह घर ही। रागी वन में भी मंदिर के नाम पर महल बसायेगा, महलों में भी उपवन बसायेगा। वह वन में रहकर भी महलों को छोड़ेगा नहीं, महल में रहकर भी वन को छोड़ेगा नहीं।

उनका चित्त जगत के प्रति सजग न होकर आत्मनिष्ठ था। देश-काल की परिस्थितियों के कारण उन्होंने अपनी वासनाओं को दमन नहीं किया था। उन्हें दमन की आवश्यकता भी न थी क्योंकि वासनाएँ स्वयं अस्त हो चुकी थीं।

उन्होंने सर्वथा मौन धारण कर लिया था, उनको बोलने का भाव भी न रहा था। वाणी पर से जोड़ती है, उन्हें पर से जुड़ना ही न था। वाणी विचारों की वाहक है, वह विचारों का आदान-प्रदान करने में निमित्त है, वह समझने-समझाने के काम आती है, उन्हें किसी से कुछ समझना ही न था, जो समझने योग्य था, उसे वे अच्छी तरह समझ चुके थे, अब तो उसमें मग्न थे। उन्हें किसी को समझाने का राग भी नहीं था, अतः वाणी का क्या प्रयोजन? वाणी उन्हें प्राप्त थी, पर वाणी की उन्हें आवश्यकता ही न थी। जो उन्हें चाहिये ही नहीं, वह रहे तो रहे, उससे उन्हें क्या? रहे तो ठीक, न रहे तो ठीक, वे तो निरंतर आत्मचिंतन में ही लगे रहते थे।

नहाना-धोना सब कुछ छूट गया था। वे स्नान और दंत-धोवन के विकल्प से भी परे थे। शत्रु और मित्र में समभाव रखनेवाले मुनिराज वर्द्धमान गिरिकंदराओं में वास करते थे। वस्तुतः न उनका कोई शत्रु ही रहा था और न कोई मित्र। मित्र और शत्रु राग-द्वेष की उपज हैं। जब उनके राग-द्वेष ही समाप्त प्रायः थे, तब शत्रु-मित्रों के रहने का कोई प्रश्न ही नहीं रह गया था। मित्र रागियों के होते हैं, और शत्रु द्वेषियों के। वीतरागियों का कौन मित्र और कौन शत्रु? कोई उनसे शत्रुता करो तो करो, मित्रता करो तो करो, उन पर उनकी कोई प्रतिक्रिया नहीं होती है। शत्रु-मित्र के प्रति समभाव का अर्थ ही शत्रु-मित्र का अभाव है। उनके लिये उनका न कोई शत्रु था और न कोई मित्र। अन्य लोग उन्हें अपना शत्रु मानो तो मानो, अपना मित्र मानो तो मानो, अब वे किसी के कुछ भी न रह गये थे। किसी का कुछ रहने में कुछ लगाव होता है, उन्हें जगत से कोई लगाव ही न रहा था।

एक अघट घटना महावीर के जीवन में अवश्य घटी थी। आज से २५०१ वर्ष पहले दीपावली के दिन जब वे घट (देह) से अलग हो गये, अघट हो गये थे, घट-घट के वासी होकर भी घटवासी भी न रहे थे, गृहवासी और वनवासी तो बहुत दूर की बात है। अंतिम घट (देह) को भी त्याग मुक्त हो गये थे। इससे अभूतपूर्व घटना किसी के जीवन में अन्य नहीं हो सकती पर यह जगत इसको घटना माने तब है न।

इसप्रकार जगत् से सर्वथा अलिप्त, संपूर्णतः आत्मनिष्ठ महावीर के जीवन को समझने के लिये उनके अंतर में झाँकना होगा कि उनके अंतर में क्या कुछ घटा। उन्हें बाहरी घटनाओं से नापना, बाहरी घटनाओं से बांधना संभव नहीं है। यदि हमने उनके ऊपर अघट-घटनाओं को थोपने की कोशिश की तो वास्तविक महावीर तिरोहित हो जावेंगे, वे हमारी पकड़ से बाहर हो जावेंगे और जो महावीर हमारे साथ लगेंगे, वे वास्तविक महावीर न होंगे, तेरी मेरी कल्पना के महावीर होंगे। यदि हमें वास्तविक महावीर चाहिये तो उन्हें कल्पनाओं के घेरों में न घेरिये। उन्हें समझने का यत्न कीजिए, अपनी विकृत कल्पनाओं को उन पर थोपने की अनधिकार चेष्ट मत कीजिए।

❀

महावीर-स्तुति

यद्यपि युद्ध नहीं कियो, नाहिं रखे असि-तीर।
परम अहिंसक आचरण, तदपि बने महावीर॥
हे मोह-महादल-दलन वीर, दुद्धरतप संयम धरण धीर।
तुम हो अनंत आनंदकंद, तुम रहित सर्व जग दंद-फंद॥
अघकरन करन-मन हरन हार, सुखकरन हरन भवदुख अपार।
सिद्धार्थ-तनय तन रहित देव, सुर-नर-किन्नर सब करत सेव॥
मतिज्ञान रहित सन्मति जिनेश, तुम राग-द्वेष जीते अशेष।
शुभ-अशुभराग की आग त्याग, हो गये स्वयं तुम वीतराग॥
षट् द्रव्य और उनके विशेष, तुम जानत हो प्रभुवर अशेष।
सर्वज्ञ-वीतरागी जिनेश, जो तुम को पहिचाने विशेष॥
वे पहिचानें अपना स्वभाव, वे करें मोह-रिपु का अभाव।
वे प्रगट करें निज-पर विवेक, वे ध्यावें निज शुद्धात्म एक॥
निज आतम में ही रहें लीन, चारित्रमोह को करें क्षीन।
उनका हो जावे क्षीण राग, वे भी हो जावें वीतराग॥
जो हुए आज तक अरिहंत, सबने अपनाया यही पंथ।
उपदेश दिया इस ही प्रकार, हो सबको मेरा नमस्कार॥
जो तुमको नहिं जाने जिनेश, वे पावें भव-भव भ्रमण क्लेश।
वे माँगे तुमसे धन-समाज, वैभव पुत्रादिक राज-काज॥
जिनको तुम त्यागे तुच्छ जान, वे उन्हें मानते हैं महान।
उनमें ही निशदिन रहें लीन, वे पुण्य-पाप में ही प्रवीन॥
प्रभु पुण्य-पाप से पार आप, बिन पहिचाने पावें संताप।
संतापहरण सुखकरण सार, शुद्धात्मस्वरूपी समयसार॥
तुम समयसार हम समयसार, सम्पूर्ण आत्मा समयसार।
जो पहिचानें अपना स्वरूप, वे हो जावें परमात्मरूप॥
उनको ना कोई रहे चाह, वे अपना लेवें मोक्ष राह।
वे करें आतमा को प्रसिद्ध, वे अल्पकाल में होय सिद्ध॥
भूतकाल प्रभु आपका, वह मेरा वर्तमान।
वर्तमान जो आपका, वह भविष्य मम जान॥

विश्व में सर्वत्र सुंदर—एकत्वनिश्चयगत आत्मस्वभाव

श्री समयसार गाथा ३ पर पूज्य स्वामीजी प्रवचन करते हुए कहते हैं कि शुद्ध चैतन्यघन भगवान आत्मा के सन्मुख होकर शुद्धरूप परिणमित आत्मा ही सर्व लोक में सुंदर है। त्रैकालिक शुद्ध आत्मा का लक्ष्य छोड़कर कर्म के निमित्त से होनेवाले पुण्य-पापभाव के साथ एकरूप होकर परिणमन करना, वह विसंवाद—दुःख उत्पन्न करनेवाला है, असुंदरपना है। अतः इस गाथा में आचार्यदेव आत्मा के साथ एकरूप होकर परिणमन करने की प्रेरणा देते हैं—

एकत्व-निश्चय-गत समय सर्वत्र सुंदर लोक में।
उससे बने बंधनकथा, जु विरोधनी एकत्व में॥

श्री समयसार गाथा २ में प्रथम समय—आत्मा कैसा है, उसकी बात कही गयी थी और फिर यहाँ अंत में स्वसमय का और परसमय का परिणमन किसप्रकार होता है, वह बात कही गयी थी। अब तीसरी गाथा में आचार्य भगवान यह बतलाते हैं कि समय का एकरूप परिणमन न होकर दोरूप (स्वसमय और परसमयरूप) परिणमन करना, वह असंगत और बाधा उत्पन्न करनेवाला है। जब आत्मा अपने स्वसन्मुख होकर सम्यक्श्रद्धा-ज्ञान और रमणतारूप परिणमन करे, तब वह स्वसमयरूप एकत्व-निश्चयगत है और यदि कर्म के साथ एकरूप होकर मोह-राग-द्वेषमय परिणमन करे, वह परसमय है। इसप्रकार समय का दोरूप परिणमन होना, वह विरोधपना, असुन्दरपना है।

आत्मा अपने त्रैकालिक ज्ञान-दर्शन-सुखादि गुण-पर्यायों को एकीभाव से प्राप्त होने से वह समय है। भगवान आत्मा शुद्ध चैतन्यघन का सागर है, उसके सन्मुख होकर सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप परिणमन करना या अभेद रत्नत्रयरूप परिणमन

करना, वह स्वसमय है। लोक में सभी पदार्थ अपने-अपने एकत्वनिश्चय स्वरूप को प्राप्त होने से ही सुंदर हैं। इसलिये त्रैकालिक आत्मवस्तु तो तीनों काल सुंदर ही है और उसका आश्रय करने पर जो शुद्ध सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप परिणमन हुआ, वह भी सुंदर है। त्रैकालिक आत्मवस्तु तो चाहे निगोद में हो अथवा नरक में हो, वह तो तीनों काल शक्तिरूप से सुंदर ही है परंतु आत्मा के सन्मुख होकर उसके विद्यमानपने की श्रद्धा-ज्ञान करके अनुभवपूर्वक स्वसमयरूप परिणमन करना, वह सुंदर और सत्यार्थ है। शुद्ध चैतन्य आत्मा का लक्ष छोड़कर कर्म के निमित्त से होनेवाले पुण्य-पापभाव के साथ एकरूप होकर परिणमन करना, वह परसमय है। यह पर्याय में द्विविधपना हुआ, क्योंकि एक में दोपना उत्पन्न होना, वह विरोध है, असत्यार्थ है, बाधक है और विसंवाद-दुःख उत्पन्न करनेवाला है, असुंदर है। यहाँ पर यह बात सिद्ध करनी है।

श्री जयसेनाचार्य ने इस गाथा की टीका करते हुए 'एकत्व-निश्चय' के संबंध में तीन अर्थ किये हैं, वे निम्न प्रकार हैं:—

(१) एकेन्द्रियादि अवस्थाओं में त्रैकालिक आत्मा शुद्ध निश्चयनय से सुंदर है। एकेन्द्रियादि की आत्मायें शुद्ध निश्चयनय से सुंदर हैं, ऐसा सच्चा ज्ञान किसको हो सकता है? जिससे जीव ने अपने शुद्ध चैतन्यघन आत्मा के सन्मुख होकर निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप परिणमन किया हो, उसे सब आत्मायें द्रव्य अपेक्षा से सुंदर हैं, ऐसा सच्चा ज्ञान होता है। एकेन्द्रियादि को, अपना स्वयं का आत्मद्रव्य सुंदर है, ऐसा विदित नहीं है। परंतु जिसकी पर्यायदृष्टि चली गयी है और द्रव्यदृष्टि हुई है, उसको एकेन्द्रियादिक सभी जीव द्रव्य अपेक्षा से सुंदर हैं - ऐसा सच्चा ज्ञान होता है।

अब, परिणमन की अपेक्षा बात कहते हैं कि :—

(२) शुद्ध चैतन्यस्वरूपी भगवान आत्मा में ज्ञान-दर्शन-सुखादि ऐसे अनंत गुण हैं, उन गुणों का आंशिक शुद्धरूप परिणमन होना, वह एकत्व-निश्चयगत होने से सुंदर है।

(३) ज्ञान-आनंदस्वभावी आत्मा का आश्रय करके अभेद रत्नत्रयरूप परिणमन होना, वह एकत्व-निश्चयगत होने से सुंदर है।

यहाँ पर समय के (आत्मा के) द्रव्य अपेक्षा से भेद नहीं कहे गये हैं परंतु समय की परिणति के स्वसमय और परसमय के भेदों की बात कही गयी है। ध्रुव शुद्धात्मद्रव्यसामान्य तो त्रैकालिक समय है किंतु अपने शुद्ध चैतन्य ध्रुवतत्त्व के अभिमुख होकर एकत्वरूप शुद्ध परिणमन करना, वह स्वसमय और अपने ध्रुव चैतन्य का लक्ष छोड़कर रागादि के साथ एकत्वरूप परिणमन करना, वह परसमय है। परसमयपना आत्मा में द्विविधपना उत्पन्न करता है। यह द्विविधपना बाध्य है, असत्य है, नुकसानकारक है, दु:खदायक है, इसलिये वह छोड़ने योग्य है।

पुद्गलकर्म के वश होकर मोह-राग-द्वेषरूप परिणमन करना, वह आत्मा नहीं और दया-दानादि के शुभभावरूप परिणमन करना, वह भी आत्मा नहीं है। शुद्ध चैतन्य आत्मा को ध्येय बनाकर जो स्वगुण-पर्याय का निर्मलरूप से परिणमन होना, वह स्वआत्मा और पर के लक्ष से विकाररूप परिणमन होना, वह अनात्मा है। आत्मा का स्वभावरूप अर्थात् निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप परिणमन होना, वह इसका कार्य (कर्म) है और विभावरूप परिणमन करना, वह इसका कर्म (कार्य) नहीं है।

इस गाथा में और समयसार गाथा ७१ में भी कहा है कि त्रैकालिक आत्मा चैतन्य ध्रुवस्वभाव है, उसके आश्रय से जो शुद्धरूप परिणमन होता है, उसे आत्मा कहा जाता है क्योंकि शुद्ध परिणमन, वह स्वयं का शुद्ध कार्य होने से आत्मा है। परंतु रागादिभाव जीव का अशुद्ध कार्य होने से वह अनात्मा है, ऐसा सिद्ध करने के लिये स्वभाव के शुद्ध परिणमन को आत्मा कहा गया है। यही बात इस गाथा में कहते हैं कि 'समय' नाम का आत्मपदार्थ है, उसकी परिणति दो प्रकार की है। ज्ञान-आनंदस्वभावी भगवान आत्मा का आश्रय करके जो निर्मल परिणति प्रगट होती है, वह स्वसमय है और पर का आश्रय करके जो अनिर्मल परिणति प्रगट होती है, वह परसमय है, अनात्मा है। स्वभाव से त्रिकाल एकत्वनिश्चय को प्राप्त आत्मपदार्थ में ऐसा दो प्रकार का परिणमन, वह बाधा उत्पन्न करता है; इसलिये विकार छोड़ने योग्य है और एकरूप परिणमन करने योग्य है।

आचार्य भगवान प्रथम समय शब्द की व्याख्या करते हैं और फिर स्वसमय और परसमयरूपी पर्याय की व्याख्या करेंगे।

इस विश्व के समस्त पदार्थों को 'समय' कहा जाता है क्योंकि एकीभाव से अपने गुण-पर्यायों को प्राप्त होकर जो परिणमन करते हैं, वे 'समय' हैं। प्रत्येक पदार्थ अपने गुण और पर्यायों को प्राप्त होकर नित्य ध्रुव रहते हैं, इसलिये वे सब 'समय' हैं।

वीतराग सर्वज्ञ परमात्मा देवाधिदेव ने इस जगत में जाति अपेक्षा छह द्रव्य देखें हैं। उनमें जीव और पुद्गल दोनों विभावरूप परिणमन करते हैं और शेष चार द्रव्य- धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश व काल, वे सब तीनों काल शुद्धरूप परिणमन करते हैं। षट्द्रव्यस्वरूप लोक में सब जगह पर जितने भी पदार्थ हैं, वे सब अपने गुण और पर्यायों को एकीभाव से प्राप्त होने से सुंदरपने को प्राप्त हैं। धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश और कालद्रव्य, वे भी सब अपने गुण-पर्यायों में रहने से सुंदरपने को प्राप्त हैं। क्योंकि उनकी पर्यायों को कभी भी पर का आश्रय नहीं होता है। वे सब तीनों काल अपने एकत्वपने को ही प्राप्त हैं।

छह द्रव्यों में से मात्र जीवद्रव्य को ही बन्धभाव से दुःख उत्पन्न होता है। परंतु पुद्गलद्रव्य में विकारभाव होने पर भी उसमें सुख नहीं होने से उसको सुख-दुःख उत्पन्न नहीं होता है। प्रत्येक वस्तु स्वतंत्र है, इसलिए जीवद्रव्य भी स्वतंत्रपने विकार और निर्विकाररूप से अपनी योग्यतानुसार परिणमन करता है। विकाररूप परिणमन करने पर दुःखरूप होता है और स्व के साथ एकत्वरूप होकर निर्विकार परिणमन करने से सुखरूप होता है, इसलिये वह सुंदर है; परंतु अन्य प्रकार से परिणमन करने पर उसमें सर्व संकर, व्यतिकर, अधिकरण, परस्पराश्रय, संशय, अवस्था, अप्रतिपत्ति, विरोध, अभावादि समस्त दोष आ जाते हैं।

संकर दोष किसे कहते हैं ?

सर्वेषां युगपत्प्राप्तिः संकरः। जो अनेक द्रव्यों के एकरूपता की प्राप्ति है, सो संकर दोष है। जीव अनादि से अज्ञानदशा में शरीर को, शरीर की क्रिया को, द्रव्यइंद्रियों को, भावइंद्रियों को तथा उनके विषय को स्व से एकरूप मानता है, इसलिये वह संकर दोष है।

संकर दोष दूर करने का उपाय क्या है ?

शुद्ध चैतन्यस्वरूपी एकत्व-विभक्त भगवान आत्मा कर्म, शरीर, इंद्रिय, जीव की विकारी और अविकारी दशा से भिन्न है, ऐसे आत्मा के सन्मुख होकर निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप परिणमन करना, वह संकर दोष को दूर करने का उपाय है।

व्यतिकर दोष किसे कहते हैं ?

परस्परविषयगमनं व्यक्तिकरः। यदि चेतनद्रव्य अचेतनद्रव्य का कुछ कार्य करे और अचेतन कर्म या शरीर चेतन जीव का कुछ भला-बुरा करे तो चेतन, अचेतनरूप हो जाये और अचेतन, चेतनरूप हो जाये। यदि एक जीव दूसरे जीव का कुछ भला-बुरा करे तो एक जीव दूसरे जीवरूप हो जाये तो व्यतिकर दोष आ जायेगा।

जगत में छह द्रव्य अत्यंत निकट एक क्षेत्रावगाहरूप में रहते हुए भी प्रत्येक द्रव्य चाहे परमाणु हो, आत्मा हो, आकाश हो और काल हो, वे सब अपने द्रव्य में अंतर्मगन रहनेवाले अपने अनंत धर्मों के समूह को चूमते हैं-स्पर्श करते हैं, तथापि परस्पर में एक दूसरे को स्पर्श नहीं करते हैं। प्रत्येक द्रव्य अपने धर्मों को स्पर्श करता है परंतु किसी परद्रव्य को स्पर्श नहीं करता है। यदि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को स्पर्श करे तो वह परद्रव्यरूप हो जाये।

श्री प्रवचनसार की १७२वीं गाथा की टीका में 'अलिंगग्रहण' के १८वें बोल में कहा है कि त्रैकालिक द्रव्य गुणभेद को स्पर्श नहीं करता, परंतु इस गाथा में कहते हैं कि प्रत्येक द्रव्य अपने धर्मों को स्पर्श करते हैं-चूमते हैं; किंतु परद्रव्य के गुण-पर्यायों को स्पर्श नहीं करते हैं। यहाँ पर से पृथक्पना सिद्ध करना है। श्री प्रवचनसार की गाथा १७२ की गाथा में 'अलिंगग्रहण' के १८ वें बोल में मात्र त्रैकालिक आत्मद्रव्य को सिद्ध करना है तो वहाँ पर ऐसा कहा गया कि सत्चिदानंद भगवान अभेद आत्मा जो दृष्टि का विषय है, वह गुणभेद को आलिंगन नहीं करता है। प्रवचनसार की इस गाथा में एक आत्मद्रव्य के अंतरंग में ही भेदज्ञान करने की बात कही है और समयसारजी की इस गाथा में परद्रव्य से भेदज्ञान कराने की बात कही है।

एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को स्पर्श नहीं करता, उसके दृष्टांत निम्नप्रकार हैं:—

(१) कर्म का उदय परद्रव्य होने से उसे आत्मा स्पर्श नहीं करता है और कर्म

का उदय आत्मा को स्पर्श नहीं करता है। (२) शरीर आत्मा को स्पर्श नहीं करता और आत्मा शरीर को स्पर्श नहीं करता है। (३) स्कंध में अनंत परमाणु हैं, उनमें से एक परमाणु दूसरे परमाणु को निश्चय से स्पर्श नहीं करता है। स्कंध में प्रत्येक परमाणु एक-एक प्रदेशी होने पर भी उसमें अनंत स्पर्श-रस-गंधादि गुण हैं। जितनी गुणों की संख्या आकाशद्रव्य में है, उतने गुणों की संख्या एक परमाणु में है। आकाशद्रव्य सर्वव्यापक है और परमाणु तो एक प्रदेशी है। तथापि आकाश में जितने गुण हैं, उतने गुण एक परमाणु में हैं। एक रूपी पदार्थ दूसरे रूपी पदार्थ को निश्चय से स्पर्श नहीं करता है। यदि निश्चय से स्पर्श करे तो एक द्रव्य हो जाये। स्पर्शगुण के कारण जो स्कंध अवस्था होती है, वह बात उपरोक्त कथन से भिन्न प्रकार की है। आकाश परमाणु को, परमाणु आकाश को परमाणु जीव को और जीव परमाणु को, इसप्रकार समस्त पदार्थ एक-दूसरे को स्पर्श नहीं करते हैं। आकाश क्षेत्र में अनंत जीव, अनंत परमाणु एक धर्मास्तिकाय, एक अधर्मास्तिकाय, असंख्य कालाणु आदि सब द्रव्य एकक्षेत्रावगाहरूप से रहते हैं परंतु वे सब एक-दूसरे को स्पर्श नहीं करते हैं।

शरीर में अनंत निगोदिया जीव हैं, उसमें एक निगोदिया जीव दूसरे निगोदिया जीव को स्पर्श नहीं करता है, तो फिर कर्म जीव को हैरान करते हैं, यह बात इस कथन से असत्य सिद्ध होती है। 'जीव स्वयं अपने को भूलकर हैरान हो रहा है।' पूजा में भी कहा है कि:—

कर्म विचारे कौन, भूल मेरी अधिकाई।
अगनि सहै घनघात, लोह की संगति पाई॥

एक संसारी के साथ कार्माणशरीर, तैजसशरीर और अन्य जीव हैं, वे सब परस्पर एक-दूसरे को स्पर्श नहीं करते हैं। सिद्धालय के एक क्षेत्र में ही अनंत सिद्ध जीव हैं, वे सब एक-दूसरे को स्पर्श नहीं करते हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि प्रत्येक पदार्थ स्वयंसिद्ध होने से वे अपने गुण-पर्यायों में ही परिणमन कर रहे हैं, उन्हें निश्चय से किसी पर के साथ किंचित् संबंध नहीं है।

श्री समयसार कलश २०० में निम्नप्रकार कहा है:—

नास्ति सर्वोऽपि संबंधः परद्रव्यात्मतत्त्वयोः।
कर्तृकर्मत्व संबंधाभावे तत्कर्तृता कुतः॥

अर्थ—परद्रव्य और आत्मतत्त्व को सर्व ही (अर्थात् कुछ भी) संबंध नहीं है; इसप्रकार कर्ताकर्मपने के संबंध का अभाव होने से, आत्मा को परद्रव्य का कर्तृत्व कहाँ से हो सकता है ? (नहीं हो सकता है।)

यह लोक १४ ब्रह्मांडस्वरूप है। इस लोक में तीर्थंकर वीतराग सर्वज्ञ परमात्मा ने जाति अपेक्षा छह द्रव्य देखे हैं, परंतु वे सर्व द्रव्य अपने-अपने द्रव्य-गुण-पर्याय, अपेक्षित धर्म और विकार को स्पर्श करते हैं-चूमते हैं, यह बात पूर्व में विस्ताररूप से कही गयी है। अब वे समस्त द्रव्य सदाकाल अपने स्वरूप से च्युत नहीं होने से पररूप परिणमन नहीं करते हैं, इस बात को सिद्ध करते हैं।

एक आकाश क्षेत्र में अनंत जीवद्रव्य, अनंत परमाणु, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और काल ये सब द्रव्य अत्यंत निकट रहने पर भी कोई भी द्रव्य अपने स्वरूप से च्युत नहीं होता है। सर्व द्रव्य अपनी-अपनी भिन्न-भिन्न सत्ता रखते हैं। एक जीवद्रव्य अपने स्वरूप से च्युत होकर अन्य जीवरूप परिणमन नहीं करता क्योंकि सभी जीव अपनी-अपनी भिन्न सत्ता में रहते हैं।

एक द्रव्य दूसरे द्रव्यरूप परिणमन न करने से पदार्थों की अनंत व्यक्ति में से किसी भी व्यक्ति का नाश नहीं होता है अर्थात् जगत में समस्त द्रव्यों की जितनी-जितनी संख्या है, उतनी-उतनी संख्या निरंतर रहती है। उन समस्त द्रव्यों में से किसी एक भी द्रव्य का नाश नहीं होता है।

आकाश के एक क्षेत्र में सभी द्रव्य रहने पर भी वे सर्व द्रव्य अपने स्वक्षेत्र में रह रहे हैं। आकाश को आत्मा स्पर्श नहीं करता, आकाशद्रव्य आत्मद्रव्य को स्पर्श नहीं करता है। जिस क्षेत्र में आकाश है, उसी क्षेत्र में आत्मा है परंतु आत्मा अपने स्वरूप से च्युत होकर आकाशद्रव्य में मिल नहीं जाता और आकाशद्रव्य अपने स्वरूप से च्युत होकर आत्मा में मिल नहीं जाता है। इसप्रकार सभी द्रव्य अपने-अपने स्वक्षेत्र में रहने से द्रव्यों की अनंत व्यक्तिता बनी रहती है, किसी भी द्रव्य का नाश नहीं होता; क्योंकि

एक द्रव्य दूसरे द्रव्यरूप नहीं होता। यदि हो जाये तो अवश्य नाश को प्राप्त होंगे।

जीवद्रव्य संख्या अपेक्षा से अनंतपने प्रगट है। तथापि जीवद्रव्य दूसरे जीवद्रव्य रूप नहीं होने से उन अनंत जीव द्रव्यों की प्रगटपने से जितनी संख्या है, उतनी ही रहती है, इसलिये उनका कभी भी नाश नहीं होता है। अनंत जीव आकाश के एक क्षेत्र में रहने पर भी वे सब अपने-अपने स्वक्षेत्र में रह रहे हैं। तात्पर्य यह है कि कोई भी द्रव्य किसी अन्य द्रव्य का कुछ नहीं कर सकता, ऐसा भेदज्ञान करना चाहिये।

जिसप्रकार छेनी से उत्कीर्ण की हुई मूर्ति स्पष्ट दिखायी देती है, उसीप्रकार सर्व द्रव्य अपने-अपने द्रव्य-गुण-पर्याय में रहते हैं, ऐसा स्पष्ट सम्यक् मति-श्रुतज्ञान में ज्ञानी को जानने में आता है। जीव अनंत हैं, पुद्गल अनंतानंत हैं, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाश एक-एक है तथा कालाणु लोकाकाश प्रदेश प्रमाण असंख्यात हैं। वे सभी द्रव्य जैसे हैं, वैसे निरंतर स्थित रहते हैं। वे सब आकाश के एक क्षेत्र में रहने पर भी एक-दूसरे को स्पर्श नहीं करते और सर्व द्रव्य अपने स्वरूप से च्युत भी नहीं होते हैं।

जब जीवद्रव्य अपने स्वरूप से च्युत नहीं होता है, तब शरीर-मन-वाणी, दाल-भातादि सब वस्तुयें जीव का क्या बिगाड़-सुधार कर सकती हैं? जीवद्रव्य का अन्य द्रव्य किंचित्मात्र भी बिगाड़-सुधार नहीं कर सकते हैं। जब वह जीव का बिगाड़-सुधार नहीं कर सकते हैं तो फिर वह जीव को कहाँ से मोह-राग-द्वेष भाव उत्पन्न करा सकते हैं? श्री प्रवचनसार की गाथा ४५ की टीका में तीर्थंकरों के पुण्य का विपाक अकिंचित्कर ही है (कुछ करता नहीं, स्वभाव का किंचित् घात करता नहीं) ऐसा बतलाते हुए कहा है कि परपदार्थ तो जीव के लिये अकिंचित्कर (किंचित्मात्र भी नहीं कर सकते) हैं। जीवद्रव्य परपदार्थ को स्पर्श नहीं कर सकता और परपदार्थ जीव को स्पर्श नहीं कर सकते हैं। अतः परपदार्थ जीवद्रव्य को मोह-राग-द्वेषभाव उत्पन्न करा दे, ऐसा कभी बन नहीं सकता है। यह जीव स्वयं अपने दोष के कारण मोह-राग-द्वेषभाव उत्पन्न करता है परंतु पर इसे मोह-राग-द्वेष उत्पन्न करा देवें, ऐसा कभी नहीं बनता है। सारांश यह है कि प्रत्येक द्रव्य अपने द्रव्य-गुण-पर्याय में अपनी सत्ता में शाश्वत हैं।

विरुद्ध कार्य किसे कहते हैं ?

उत्पाद-व्यय को विरुद्ध कार्य कहा जाता है। प्रत्येक द्रव्य में नवीन पर्याय का उत्पन्न होना और पूर्व पर्याय का व्यय होना, वह विरुद्ध कार्य है। इसलिये उत्पाद-व्यय के स्वरूप को ध्रुव की अपेक्षा विरुद्ध कार्य कहने में आता है। उत्पाद-व्यय को भाव-अभाव के नाम से भी कहा जाता है। भाव, वह उत्पाद और अभाव, वह व्यय है। नवीन पर्याय का उत्पन्न होना, वह भाव और पूर्व पर्याय का व्यय होना, वह अभाव है।

अविरुद्ध कार्य किसे कहते हैं ?

ध्रुव द्रव्य व गुण का गुणरूप स्थिर रहना, वह अविरुद्ध कार्य है। इस विश्व में समस्त पदार्थ अपने उत्पाद-व्ययरूप विरुद्ध कार्य से और गुणरूप अविरुद्ध कार्य से जैसे हैं, वैसे अनादि से टिक रहे हैं। चाहे पर्याय में उत्पाद-व्ययरूप विरुद्ध कार्य हो अथवा गुण में गुणरूप अविरुद्ध कार्य हो, तथापि वस्तु तो जैसी है, वैसी टिक रही है। श्री तत्त्वार्थसूत्र में कहा है कि 'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तंसत्' सत् ध्रुव होने से वह ऐसा का ऐसा टिक रहा है। परंतु एक सत् कहीं दूसरे सत् में मिल नहीं जाता।

इसप्रकार सर्व पदार्थों का भिन्न-भिन्नपना सिद्ध किया। अब समय नाम के पदार्थ को बंधभाव से आपत्ति आती है, वह कहते हैं—

शुद्ध चैतन्यस्वरूप भगवान आत्मा है। उसका संबंध न करने और कर्म के निमित्त से उत्पन्न होनेवाले मोह-राग-द्वेषादि भावबंध का संबंध करना, वह विसंवादना है, असत्यपना है और वह दुःख उत्पन्न करता है। जो जीव अपने चैतन्यस्वरूप आत्मा के सन्मुख न होकर परसन्मुख होता है, वह पुद्गलकर्म में स्थित है, ऐसा कहने में आता है। वह परसमयपना का मूल अर्थात् कारण है।

त्रैकालिक ज्ञान-आनंदस्वभावी भगवान आत्मा, वह समय है। ऐसे समय का आश्रय करके शुद्धरूप परिणमन करना, वह स्वसमय है और मोह-राग-द्वेषादि का संबंध करके अशुद्धरूप परिणमन करना, वह परसमयपना है। इसप्रकार समय नामक आत्मपदार्थ में ऐसे दो भेद होना, वह द्विविधपना होने से विसंवाद की आपत्ति आती है। इसलिये समय का एकपना होना ही सुंदर है और वही लाभदायक है, ऐसा सिद्ध होता है। ●●●

ज्ञायकभाव प्रमत्त और अप्रमत्त पर्यायरूप नहीं है। आचार्य ऐसे ज्ञायकभाव का-अलौकिक स्वरूप बतलाते हैं।

श्री समयसार गाथा ६ पर पूज्य स्वामीजी प्रवचन करते हुए कहते हैं कि यह गाथा मानो छठी के लेख के समान होने से महत्त्वपूर्ण है। त्रैकालिक ज्ञायकस्वभाव आत्मा शुभाशुभरूप परिणमित नहीं होने से वह प्रमत्त पर्यायरूप भी नहीं और अप्रमत्त पर्यायरूप भी नहीं है, वह तो ज्ञायकरूप ही है। ऐसे ज्ञायकस्वभावी आत्मा का आश्रय करने से जीव को मोक्ष महल की प्रथम सीढ़ी सम्यग्दर्शन है, वह प्रगट होती है।

नहिं अप्रमत्त प्रमत्त नहिं, जो एक ज्ञायकभाव है।
इस रीति शुद्ध कहाय अरु, जो ज्ञात वो तो वो हि है॥

श्री समयसार गाथा ५ की टीका में कहा था कि भगवान कुंदकुंदाचार्यदेव अपने निजवैभव से—जो कि निर्मल विज्ञानघन आत्मा में अंतर्मग्न परमगुरु—सर्वज्ञदेव और अपरगुरु—गणधरादिक से लगाकर साक्षात् गुरु श्री जिनचंद्राचार्य—उनके द्वारा प्रसादरूप से दिये गये शुद्धात्मतत्त्व के उपदेश से उत्पन्न हुआ है उससे—इस 'एकत्व-विभक्त आत्मा को दर्शावेंगे। पुनः शिष्य अंतर की जिज्ञासापूर्वक प्रश्न पूछता है कि आप बारंबार शुद्धात्मतत्त्व का उपदेश देते हो, तो यह शुद्धात्मतत्त्व कौन है? जिसका स्वरूप हमें जानना चाहिये। ऐसी कौन-सी अलौकिक वस्तु है, जिसको जानने से हमारा जन्म-मरण मिटे, भव-भ्रमण और परिपूर्ण महा आनंद ऐसे मोक्ष की प्राप्ति हो जाये। शिष्य की तीव्र जिज्ञासा देखकर आचार्य भगवान उसके प्रश्न का उत्तर श्री समयसार गाथा ६ में देते हैं।

जो शुद्धात्मतत्त्व है, वह ज्ञायकभाव है, त्रैकालिक ध्रुवस्वभावभाव है, परमपारिणामिकभावस्वभाव है। इस गाथा में शुद्धात्मतत्त्व को परम पारिणामिकभाव न कहकर ज्ञायकभाव कहा, उसका कारण यह है कि परमपारिणामिकभाव तो छह प्रकार के सर्व द्रव्यों में पाया जाता है परंतु शिष्य ने शुद्ध आत्मतत्त्व की बात पूछी है,

इसलिये उसे ज्ञायकभाव कहकर समझाया गया है। ज्ञायकभाव, ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव होने से वह शुद्ध चैतन्य का त्रैकालिक पिंड है। जो परिपूर्ण जानने की शक्ति से भरपूर है, जिसमें शरीर-मन-वाणी और शुभाशुभभाव को करने का किंचित्मात्र भी कोई गुण नहीं है तथा ज्ञान-दर्शनादि के अपूर्णपने परिणमन करने की शक्ति भी नहीं है। ज्ञायकभाव त्रैकालिक ध्रुवभाव होने से उसमें अप्रमत्त और प्रमत्त पर्याय भी नहीं है। जिसमें १४ गुणस्थान की विकारी और अविकारी पर्यायें भी नहीं हैं परंतु वह तो मात्र त्रैकालिक ध्रुव आत्मद्रव्य है। १ गुणस्थान से ६ गुणस्थान तक प्रमत्त दशा और ७ गुणस्थान से १४ गुणस्थान तक अप्रमत्त दशाएँ होती हैं। १४ गुणस्थान की पर्यायें भेदरूप होने से वे अशुद्ध निश्चयनय का विषय है। त्रैकालिक ज्ञायकस्वभावी भगवान आत्मा प्रमत्त और अप्रमत्त पर्यायरूप न होने से वह शुद्ध निश्चयनय का विषय है।

त्रैकालिक ज्ञायकभाव अनादि-अनंत, नित्यानंद प्रभु, पवित्र, एकरूप, सामान्य, परम पारिणामिकभाव-स्वभावरूप, ध्रुवभाव, सदृशभावरूप है, जिसमें पर्यायों का अभाव है, ऐसे ज्ञायकभाव की जिसने पर से लक्ष्य हटाकर सेवा-उपासना की तो उसको पर्याय में शुद्धरूप परिणमन होता है, उस शुद्धरूप परिणमन में ज्ञायकभाव शुद्ध है, ऐसा उसे जानने में आता है। मात्र शुद्ध है, शुद्ध है, शुद्ध है—ऐसा विचार करना तो विकल्प है। इस विकल्प से आत्मा शुद्ध है, ऐसा जानने में नहीं आता है और आत्मा शुद्ध है, ऐसा सर्व जीव जानते हैं, सो भी नहीं है। परंतु जो अपने ज्ञायकस्वभावी नित्य शुद्ध आत्मा को परद्रव्य और परभावों से भिन्न होकर उपासना करता है तो उसे पर्याय में निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र भूमिकानुसार प्रगट होते हैं और वह जीव, 'आत्मा शुद्ध है' ऐसा यथार्थरूप से जानता है। अब पर्याय की बात कहते हैं—

शुद्ध चैतन्य ज्ञायकस्वभावी आत्मा पर दृष्टि जाने से शुद्धतारूप परिणमन होता है। उस शुद्धता के साथ में स्व-पर के ज्ञान का भी परिणमन होता है और वह परिणमन ज्ञेय के कारण हुआ हो, ऐसा नहीं है, परंतु स्वयं के ज्ञानपर्याय की योग्यता से ही उसरूप परिणमन होता है। उस ज्ञानपर्याय का ज्ञायक आत्मा स्वयं ही कर्ता और स्वयं

ही कर्म है परंतु परज्ञेय कर्ता और ज्ञान की पर्याय कर्म, ऐसा नहीं है। परज्ञेयों के कारण ज्ञान की पर्याय में परज्ञेय जानने में आये हों, ऐसा भी नहीं है।

त्रैकालिक शुद्ध आत्मा के सन्मुख होने पर पर्याय में आत्मा ज्ञायकरूप से जानने में आ जाये तो आत्मा ज्ञायकरूप से ज्ञात हुआ, ऐसा कहा जाता है। जिसप्रकार जहर-जहररूप ही है, अमृत-अमृतरूप ही है, उसीप्रकार ज्ञायक तो ज्ञायकरूप ही है अर्थात् वह तो वही है, परंतु शरीर, राग, पर्याय और अन्य कोई रूप नहीं है।

सर्व सिद्धांत का सार तो यह है कि अपने ज्ञायकस्वभावी ध्रुव आत्मा के सन्मुख होकर उसको जानना और अनुभव करना है।

श्री छहढाला की चौथी ढाल में कहा है कि—

लाख बात की बात यहै निश्चय उर लावो।
तोड़ सकल जग-दंद-फंद निज आतम ध्याओ॥

अर्थः—लाख बात की बात तो यह है कि शुभाशुभभाव परसन्मुखपना करने से प्रगट होते हैं, इसलिये उनका लक्ष्य छोड़कर शुद्ध चैतन्य निज परमात्मतत्त्व का अनुभव करना चाहिये।

इस छठवीं गाथा की टीका करते हुए श्री अमृतचंद्राचार्यदेव ज्ञायकस्वभावी भगवान आत्मा का स्वरूप बतलाते हैं—इस जगत में जाति अपेक्षा छह द्रव्य हैं, उन द्रव्यों को किसी ईश्वर व कर्म ने बनाया हो, ऐसा नहीं है। जो ज्ञायकस्वभावी जीवद्रव्य है, उसको भी किसी ईश्वर व कर्म ने बनाया हो एवं किसी माता ने उसको जन्म दिया हो, ऐसा भी नहीं है। वह ध्रुवभावरूप होने के कारण स्वतःसिद्ध अर्थात् स्वयं अपने से ही विद्यमान है। अनादि से है-है-है रूप है अर्थात् अनादि से सत्‌रूप है। और कैसा है? ज्ञायकस्वभावी आत्मा का भविष्य में कभी नाश नहीं होनेवाला है। कोई उसे बन्दूक, तलवार आदि से नाश करना चाहे, तथापि उसका नाश नहीं हो सकता है। वह तो अविनाशी होने से अनंत है। औदयिक, औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिकभाव, पर्यायरूप होने से विनाशिक हैं। चाहे केवलज्ञान की पर्याय हो, वह भी नाशवान है, क्योंकि वह एक समय की अर्थात् परिणमनशील होने से नाश को प्राप्त

होती है परंतु अंतर में विराजमान जो त्रैकालिक ज्ञायकस्वभावी चैतन्य के प्रकाश का पुंज है, वह अनादि से है और नाश को प्राप्त नहीं होने से अविनाशी वस्तु है। इसप्रकार ज्ञायकस्वभावी आत्मा के विषय में भूत और भविष्य काल की बात कही, अब वर्तमान में ज्ञायकस्वभावी आत्मा का स्वरूप कैसा है, सो कहते हैं—

ज्ञायकस्वभावी आत्मा सदा स्पष्ट चैतन्य प्रकाश की ज्योति है। वह नाशवान वस्तु नहीं है। वर्तमान पर्याय क्षणिक होने से नाशवान है परंतु त्रैकालिक आत्मद्रव्य नाशवान नहीं है। वह तो अविनाशी होने से स्पष्ट प्रकाश की ज्योति है। वह ज्ञान की पर्याय में पर की अपेक्षा रखे बिना स्वयं को प्रत्यक्ष जानने में आ जाये, ऐसी प्रकाश की ज्योति है। ज्ञायकस्वभावी आत्मा अपने सम्यक् मति-श्रुतज्ञान से प्रत्यक्ष जानने में आ जाये, ऐसी चैतन्यज्योति है। परंतु वह परोक्ष और आवरण से दबी रहे, ऐसी आत्मज्योति नहीं है। वह तो पुण्य-पापरूपी अंधकार का नाश करे, ऐसी प्रकाशमान ज्योति है।

और कैसा है ज्ञायकस्वभावी आत्मा?

जो ज्ञायकस्वभावी आत्मा है, वह तो एक भावरूप है और औदयिक, औपशमिक, क्षायोपशमिक एवं क्षायिक पर्यायें तो अनेक भावरूप हैं। ज्ञायकभाव वह एकरूप भाव होने से उसमें पर्यायों का अनेकभावरूपपना नहीं है। अनेकभावरूपपना वह मात्र पर्याय में है, द्रव्य में नहीं। जिस प्रकार ताश के पत्तों में हुकुम का इक्का, बादशाह, रानी आदि से ऊँचा होता है; उसीप्रकार ज्ञायकस्वभावी आत्मा हुकुम का इक्का होने से वह सर्व भावों में ऊँचा भाव है। जिसका आश्रय लेने से सर्व विकारी भावों को जीता जा सकता है।

अब तक द्रव्यसामान्य की बात कही, अब पर्याय की बात कहते हैं—त्रैकालिक स्वभावी आत्मा तो ध्रुवरूप है, एक भावरूप है, परंतु संसार अवस्था में अनादि बंध पर्याय की अपेक्षा से कर्म पुद्गलों के साथ क्षीर-नीर की भाँति एकरूप दिखायी देता है। जिसप्रकार क्षीर-नीर भिन्न-भिन्न पदार्थ होने पर भी एकरूप दिखायी देते हैं परंतु उसमें क्षीर, क्षीररूप और नीर, नीररूप है, कभी क्षीर, नीररूप नहीं होता और नीर, क्षीर नहीं होता। फिर भी दोनों एकक्षेत्र में रहते हैं। उसीप्रकार शुद्ध चैतन्यस्वभाव के रस का सत्त्व भगवान आत्मा और कर्म दोनों भिन्न-भिन्न पदार्थ हैं

तथापि आत्मा की वर्तमान पर्याय में अनादि से, द्रव्यकर्म के साथ निमित्त-नैमित्तिक संबंध होने से व एकक्षेत्रावगाह में रहने से, एकरूप दिखायी देते हैं परंतु त्रैकालिक द्रव्यस्वभाव की अपेक्षा से देखें तो ज्ञायकस्वभाव तो ज्यों का त्यों ही है। जिसप्रकार खदान में स्वर्ण के साथ मिट्टी का कितना भी संबंध हुआ हो, तथापि स्वर्ण तो ज्यों का त्यों ही है; उसीप्रकार चैतन्य की पर्याय में कर्म का संबंध हुआ, तथापि चैतन्य तो ज्यों का त्यों ही है। वह कभी कर्मरूप नहीं हुआ है। कर्म तो अचेतनरूप है और ज्ञायकस्वभावी आत्मा चेतनरूप है। अतः अचेतन कर्म चेतन ऐसा आत्मारूप किसप्रकार हो जाये और चेतन, अचेतन कर्मरूप किसप्रकार हो जाये, अर्थात् एक-दूसरेरूप कभी नहीं हो सकते हैं।

शुद्ध चैतन्य भगवन आत्मा का आश्रय नहीं किया और परपदार्थ का आश्रय किया, जिससे पर्याय में मिथ्यात्व-राग-द्वेषरूपी कषायों का समूह प्रगट होता है। वे मिथ्यात्वादि कषाय दुरंत हैं, जिसका अंत लाने के लिये महान पुरुषार्थ की आवश्यकता होती है। शुभाशुभभावरूपी कषाय एक प्रकार की नहीं होती परंतु अनेक प्रकार की होने से वह विचित्रपने को प्राप्त है। त्रैकालिक शुद्ध आत्मा के वश न होकर शुभाशुभभाव को अपना मानना ही उसके वश होना है। कर्म के उदय के कारण शुभाशुभभाव के वश हुआ हो, ऐसा भी नहीं है परंतु अपनी विपरीत मान्यता से शुभाशुभभाव के वश हुआ है। शुभाशुभभाव के निमित्त से घातिकर्म में सर्व पापरूप कर्मों का ही बंध होता है क्योंकि घातिकर्म पापरूप ही है। परंतु अघातिकर्म में शुभभाव से पुण्यकर्म का बंध होता है और अशुभभाव से पापकर्म का बंध होता है। शुभभाव भी पुण्यकर्म को ही उत्पन्न करता है। परंतु वह आत्मिकधर्म उत्पन्न नहीं करता है।

ज्ञायकस्वभावी आत्मा शुभाशुभभावरूप परिणमित नहीं होता है क्योंकि शुभाशुभभाव में ज्ञायकपना अर्थात् ज्ञानपना नहीं है, वह तो ज्ञान के अभावभावरूप भाव है। उसमें चेतन का भाव नहीं होने से वह अचेतन है। शुभाशुभराग में ज्ञान न होने से वह जड़रूप है, इसलिये वह स्वयं को भी नहीं जानता और पर को भी नहीं जानता, परंतु भेदज्ञान के द्वारा वह दूसरों को अर्थात् ज्ञानियों को जानने में आ जाता है कि शुभाशुभभाव अचेतन है।

शुद्ध चैतन्य के तेज का पुंज भगवान आत्मा दया-दानादि के शुभभावरूप,

हिंसा-झूठ-चोरी आदि और विषय-कषाय के अशुभभावरूप कभी भी परिणमित नहीं होता; परंतु अंतरंग में त्रैकालिक स्वरूप तो ज्यों का त्यों सदाकाल रहा हुआ है। सम्यग्दृष्टि के ध्यान का ध्येय ऐसा त्रैकालिक ज्ञायकस्वभावी आत्मा वह पुद्गल, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश और कालरूप परिणमित नहीं होता और शुभाशुभभावरूप भी परिणमित नहीं होता है; क्योंकि शुभाशुभभाव तो जड़रूप होने से वे स्वयं को नहीं जानते और पर को भी नहीं जानते हैं। उनमें चैतन्य का रस नहीं है, वे राग के रस से भरपूर हैं। शुभराग करते-करते धर्म होगा, ऐसा मानते हैं, जड़ से धर्म होना मानते हैं। उनकी बात न्यायसंगत नहीं है।

श्री नियमसार शुद्धभाव अधिकार में कहा है कि ज्ञायकस्वभावी आत्मा के त्रैकालिक द्रव्यस्वभाव में औदयिक, औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिक पर्यायें भी नहीं हैं परंतु ये भाव पर्याय में है, द्रव्य में नहीं। इन चार भावों से ज्ञायकस्वभावी ध्रुव आत्मा अगोचर है। उसका अर्थ यह है कि इन चार भावों के आश्रय से त्रैकालिक ज्ञायकस्वभावी आत्मा जानने में नहीं आता; परंतु शुद्ध चैतन्य आत्मद्रव्य के सन्मुख होने से वह जानने में आता है। द्रव्यस्वभाव से देखें तो ज्ञायकस्वभावी आत्मा शुभाशुभभावरूप परिणमित नहीं होने से वह प्रमत्त भी नहीं और अप्रमत्त भी नहीं है।

अब ज्ञायकस्वभावी आत्मा को शुद्ध क्यों कहा जाता है, वह कहते हैं—

समस्त अन्य द्रव्यों के भावों से अर्थात् जड़ कर्म का उदय और उसके उपशम, क्षयोपशम और क्षय—इत्यादि परभावों से भिन्न अपने ज्ञायकस्वभावी शुद्ध आत्मा की उपासना-सेवा करने से पर्याय में शुद्ध परिणमन होता है। उस शुद्ध परिणमन से आत्मा शक्तिरूप से शुद्ध है, ऐसा जानने में आता है। मात्र शुद्ध-शुद्ध-शुद्ध कहने से आत्मा शुद्ध नहीं हो जाता है, परंतु पर से भिन्न अपने आत्मा की उपासना करने से आत्मा पर्याय में शुद्ध होता है। आत्मा ध्रुव है, ध्रुव है, ध्रुव है—ऐसा विकल्प करने से भी ध्रुव आत्मा ज्ञान की पर्याय में जाना नहीं जाता है परंतु ध्रुव आत्मा के सन्मुख होकर शुद्धरूप परिणमन करने पर आत्मा ध्रुव है, ऐसा सही प्रकार से जानने में आता है।

❀

❀ आत्मा का एकत्व ❀

❀ मुमुक्षु कहता है कि हे प्रभु! आपके एकत्व के मार्ग पर मैं अकेला चला आ रहा हूँ। आपकी ललकार सुनकर मोक्षमार्ग पर अकेला (एकत्व में परिणमन करते-करते) चला आ रहा हूँ। जगत के समक्ष देखने का मुझे प्रयोजन नहीं है। क्योंकि मुक्तिमार्ग तो 'एकत्वमार्ग' है, आत्मा के अतिरिक्त वह अन्य सबसे निरपेक्ष है।

❀ जो अपनी चेतना में परिणमन करे, वही आत्मा है। चेतना से बाह्य जो कुछ भी, वह आत्मा नहीं। आत्मा अपनी चेतना से कभी बाह्य परिणमन नहीं करता।

❀ अहा, एकत्व भावना में तत्पर आत्मा को कभी बंधन नहीं होता, दु:ख नहीं होता, वह अपने एकत्व के आनंद में ही मग्न रहता है। हे जीव! तू संसार-क्लेश से थक गया हो तो अपने अंतर में अपने एकत्व को ढूँढ़।

❀ अज्ञानता से संसार के दु:खों को भोगने में तू अकेला था, मोक्ष को साधने में भी अकेला है और सिद्धदशा में भी सादि-अनंत काल तक अकेले ही अपने निजानंद में लीन रहेगा।

❀ चेतनस्वरूप आत्मा वास्तव में 'एक' है, उसमें दूसरा कोई नहीं। इसलिये परभाव में अहंपना छोड़कर तू जाग और अपने एकत्वरूप शुद्ध आत्मा को देख।

❀ अरे, एकत्वस्वरूप आत्मा की अनुभूति में 'मैं ज्ञान हूँ' इतना विकल्प भी जहाँ नहीं चलता, वहाँ बाह्यलक्षी दूसरे राग की तो क्या बात? गुणभेद के एक सूक्ष्म विकल्प का भी ग्रहण करे, वहाँ तक एकत्वस्वरूप शुद्ध आत्मा श्रद्धा-ज्ञान और वेदन में नहीं आता। जो आत्मा के एकत्व से परिणमित हुआ, वह सब विकल्पों से भिन्न हुआ; उसने ज्ञान और विकल्प की भिन्नता को जाना और अनुभव किया।

❀ तत्त्ववेदी धर्मात्मा ऐसा अनुभव करता है कि सर्व विभावरहित एक शुद्ध जीवास्तिकाय ही मेरा स्वतत्त्व है, अन्य कुछ भी मेरा नहीं; ऐसे एकत्व का अनुभव करनेवाला तत्त्ववेदी जीव अल्पकाल में अपूर्व सिद्धि को प्राप्त होता है।

ज्ञानगोष्ठी

प्रश्न—वीतराग सर्वज्ञ कथित आगम में जहाँ कभी भी निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूपी परिणाम के सेवन करने की बात कही हो, उसका क्या अर्थ समझना चाहिये ?

उत्तर—जहाँ पर निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूपी परिणाम के सेवन करने की बात कही हो तो वह कथन मात्र व्यवहारनय और पर्यायनय का है। व्यवहारी जीव को (सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप) भेद के द्वारा अभेद को (त्रैकालिक शुद्ध चैतन्यस्वरूप भगवान आत्मा को) समझाया जा सकता है। इसके अतिरिक्त आत्मा को समझाने की अन्य कोई विधि नहीं है; इसलिये उस भेदरूप कथन के द्वारा उनको अभेदरूप आत्मवस्तु समझायी जाती है। भेद ऐसा व्यवहार, वह अभेद ऐसा निश्चय को बतलाने के लिये है परंतु व्यवहार स्वयं भेदरूप होने से अनुसरण करने योग्य नहीं है। (देखो, समयसार गाथा ८ की टीका एवं भावार्थ) अनुसरण करने योग्य और सेवन करने योग्य तो अपना एक त्रैकालिक ध्रुव ज्ञायकस्वभावी आत्मा ही है, जिसका आश्रय करने से निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की पर्याय प्रगट होती है।

प्रश्न—सम्यग्दर्शन प्राप्त होने पर मात्र श्रद्धागुण की पर्याय ही आत्मा के सन्मुख होती है या अन्य गुणों की पर्यायें भी आत्मा के सन्मुख होती हैं ?

उत्तर—श्री समयसार की गाथा ११वीं में कहा है कि—'**भूयत्थमस्सिदो खलु सम्माइट्ठी हवइ जीवो**' इसका अर्थ यह है कि जो जीव भूतार्थ ऐसा अपना त्रैकालिक ध्रुव आत्मा का आश्रय करता है, उसे निश्चय से सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है।

वहाँ निश्चय सम्यग्दर्शन प्रगट होने पर श्रद्धागुण की पर्याय तो आत्मा के सन्मुख होती ही है, अपितु अन्य गुणों की पर्यायें भी आत्मा के सन्मुख होती हैं। इसके आधार में पंडित श्री टोडरमलजी ने रहस्यपूर्ण चिट्ठी में निम्नप्रकार कहा है:—

'×××चिदानंद हूँ, शुद्ध हूँ, सिद्ध हूँ इत्यादि विचार होने पर सहज ही आनंद-तरंगें उठती हैं, रोमांच हो आता है, तत्पश्चात् ऐसा विचार तो छूट जाये केवल चिन्मात्र स्वरूप भासने लगे, वहाँ सर्व परिणाम उसरूप में एकाग्र होकर प्रवर्तते हैं।'

आशय यह है कि सर्व परिणाम अर्थात् आत्मा के सर्व गुणों के परिणाम आत्मा के सन्मुख होते हैं।

❀ श्री समयसार गाथा ५० से ५५ में अनुभूति को आत्मा कहा है वहाँ पर, जितने विकल्प उत्पन्न होते हैं, उनसे भिन्न और स्व से अभिन्न ऐसा कहना है। इसलिये अनुभूति की निर्मल पर्याय को आत्मा कहा है। परंतु जब यह बताना हो कि यह अनुभूति किसप्रकार प्रगट होती है, तब त्रैकालिक ध्रुव चैतन्य, वह स्व है और उसका आश्रय करनेवाली पर्याय, वह पर है, भिन्न है—ऐसा श्री नियमसार गाथा ५० में कहा है। यह अनुभूति की निर्मल पर्याय ध्रुव द्रव्य को स्पर्श नहीं करती और ध्रुव चैतन्यद्रव्य अनुभूति को स्पर्श नहीं करता है। अहो! यह तो परम अध्यात्म के अंतर के गंभीर सूक्ष्म भाव हैं। जाननक्रिया और त्रैकालिक ध्रुवद्रव्य, वे एक-दूसरे को स्पर्श नहीं करते, तथापि जानने की क्रिया का आधार आत्मद्रव्य है।

❀ प्रमाणज्ञान के लोभ से निश्चय में नहीं आ सकता है, वहाँ ऐसा कहना है कि, अज्ञानी पर्याय और द्रव्य का ज्ञान करने जाता है, वहाँ अनादि के अभ्यास से पर्याय में अहंपने का जोर रहने से द्रव्य का सच्चा ज्ञान नहीं होता। अज्ञानी को ऐसा होता है कि पर्याय तो है न! पर्याय है तो सही न! ऐसा पर्याय पर जोर देने से द्रव्य पर जोर नहीं आ सकता और इसलिए वह अंतर में ढाल नहीं सकता है। पर्याय का स्वीकार नहीं करूँगा तो एकांत हो जावेगा, ऐसा भय रहता है। इसप्रकार प्रमाणज्ञान के लोभ से पर्याय को गौण करके आत्मद्रव्य के सन्मुख नहीं हो सकता है।

❀ श्री योगसार में लिखा है कि द्रव्य पर्याय का दातार नहीं है। यह कथन द्रव्यार्थिकनय का है और द्रव्य पर्यायरूप से परिणमन करता है, यह कथन पर्यायार्थिकनय का है। वहाँ भी द्रव्य सामान्य तो सामान्यरूप से ही रहा हुआ है, परंतु द्रव्य का एक धर्म विशेषरूप से परिणमन करनेवाला है, इसलिये द्रव्य परिणमन करता है, ऐसा कहा गया है।

श्री वर्धमानस्वामी-जिनबिंब-पंचकल्याणक प्रतिष्ठा-महोत्सव

श्री महावीर भगवान के मंगल विहार से पवित्र हुई सौराष्ट्र की प्राचीन ऐतिहासिक नगरी वढवाणशहर (वर्धमानपुरी) में निर्मित हो रहे नवीन भव्य श्री वर्धमानस्वामी दिगम्बर जिनमंदिर की श्री जिनबिंब-पंचकल्याणक-प्रतिष्ठा का शुभ मुहूर्त फाल्गुन शुक्ला ८, सोमवार, तारीख ८-३-७६ प्रातः ९.१५ से ९.४५ का निकला है। (वढवाणशहर प्रशममूर्ति भगवती पूज्य चम्पाबहिन की पवित्र जन्मभूमि है। पूज्य बहिनश्री की जन्मभूमि में होनेवाले श्री जिनबिंब पंचकल्याणक महोत्सव का लाभ लेने की अनेक मुमुक्षु भाई-बहिनों की भावना है। उसे लक्ष्य में लेकर ग्रीष्मावकाश में यह मंगल-उत्सव मनाने का विचार था परंतु फाल्गुन सुदी ८ के पश्चात् पंचकल्याणक प्रतिष्ठा का मुहूर्त नहीं निकलता है, इसलिये उपरोक्त मुहूर्त निश्चित करने में आया है) यह प्रतिष्ठोत्सव फाल्गुन शुक्ला १ से फाल्गुन शुक्ला ८, तद्नुसार तारीख १-३-७६ से तारीख ८-३-७६ तक मनाया जायेगा।

गिरधरलाल नागरदास शाह,
अध्यक्ष, श्री दिगम्बर जैन मुमुक्षु मण्डल, वढवाणशहर

भावनगर (सौराष्ट्र)—श्री वीतराग सत्साहित्य प्रसारक ट्रस्ट भावनगर की ओर से हिन्दी पंचास्तिकायसंग्रह शास्त्र प्रकाशित हो गया है और अल्प समय में श्री हिन्दी समयसार नाटक, अष्टपाहुड़, प्रवचनसार (श्री अमृतचंद्राचार्यदेव व जयसेनाचार्यदेव की टीका सहित) प्रकाशित होनेवाले हैं। अतः जिन भाईयों और मंडलों को इन शास्त्रों की आवश्यकता हो, वे शीघ्र अपना ऑर्डर निम्न पते पर भेजें।

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमंदिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

श्री वीतराग सत्साहित्य प्रसारक ट्रस्ट
लाती बाजार, भावनगर (सौराष्ट्र)

तत्त्वज्ञानतरंगिणी—शुद्ध चिद्रूपोहं-ऐसी अध्यात्मभावना के लिये सुंदर उपयोगी पुस्तक व आत्मावलोकन पुस्तक खंडवा मुमुक्षु मंडल ने प्रकाशित की है, जो मुमुक्षुओं को स्वाध्याय करने योग्य है। मूल्य पाँच रुपये व तीन रुपये है। (सोनगढ़ से भी प्राप्त होती है।)

रेडियो भाषण—आकाशवाणी जयपुर-अजमेर से दिनांक २१-१-७६ को रात्रि ८ बजे डॉ. हुकमचन्दजी भारिल्ल, जयपुर का रेडियो भाषण होगा। जिसका विषय है 'संपूर्णता की राह में बाधक क्रोध' जिसे मीडियम बैंड ५०० तथा २०२.७ मीटर पर सुना जा सकेगा।

विविध समाचार

सोनगढ़ (सौराष्ट्र)—परम पूज्य श्री स्वामीजी सुख-शांति में विराजमान हैं। प्रतिदिन प्रातःकाल श्री समयसारजी शास्त्र के जीव-अजीव अधिकार पर तथा दोपहर को श्री नियमसारजी शास्त्र के जीव अधिकार पर स्वामीजी के अध्यात्मरस से ओत-प्रोत प्रवचन होते हैं। पूज्य स्वामीजी का वर्धमाननगर के दिगम्बर जिनबिम्ब पंचकल्याणक प्रतिष्ठा-महोत्सव निमित्त से माह कृष्णा ८, तारीख २३-२-७६ से मंगल विहार प्रारंभ होने जा रहा है। उनका मंगल विहार सौराष्ट्र प्रांत के गाँवों एवं बम्बई में होगा। वे मंगल विहार करके तारीख ३-६-७६ के लगभग वापिस सोनगढ़ पधारेंगे। इस वर्ष उनकी ८७ वीं जन्मजयंति भी बम्बई के उपनगर दादर में मनायी जायेगी।

अशोकनगर (म.प्र.)—अशोकनगर के मुमुक्षु मंडल की हार्दिक विनंति को स्वीकार करके पंडित श्री खीमचन्दभाई सोनगढ़ और पंडित श्री बाबूभाई फतेपुर अशोकनगर पधारे थे। दो दिन तक दोनों विद्वानों के मार्मिक प्रवचन हुए, जिनको सुनकर लोगों में सच्चे तत्त्व का प्रचार-प्रसार हुआ और विशेष धर्म प्रभावना हुई। समाज ने मार्मिक विदाई देकर उन दोनों विद्वानों का आभार माना। नवनिर्मित श्री महावीर कीर्तिस्तंभ का उद्घाटन मध्यप्रदेश के भूतपूर्व मुख्यमंत्री श्री प्रकाशचंदजी सेठी के कर-कमलों द्वारा संपन्न हुआ था। —हरकचंद बिलाला, मंत्री, श्री दिगम्बर जैन मुमुक्षु मंडल।

शिवपुरी (म.प्र.)—भगवान महावीर २५०० वाँ निर्वाण महोत्सव जिला समिति शिवपुरी ने एक भव्य कीर्तिस्तंभ के निर्माण का संकल्प किया था। जिसकी शिलान्यास विधि न.पा. अध्यक्ष श्री गणेशीलालजी जैन द्वारा की गयी थी। दो माह में ही अत्यंत सुदृढ़ एवं भव्य कीर्तिस्तंभ का निर्माण पूर्ण हो गया था। मध्यप्रदेश के राज्यपाल श्री सत्यनारायण सिन्हा ने इस कीर्तिस्तंभ की तारीख २३ नवम्बर को अनावरण विधि की थी। भगवान महावीर के २५०० वें परिनिर्वाण वर्ष की पावन बेला में निर्मित यह कीर्तिस्तंभ अमर स्मृतिरूप रहेगा। —मंत्री, नेमीचंदजी गोंदवाले

कोटा (राजस्थान)—कोटा जैन समाज की हार्दिक विनंति को स्वीकार करके पंडित श्री खीमचंदभाई और पंडित श्री बाबूभाई कोटा पधारे थे। दोनों विद्वानों के मार्मिक प्रवचन होने से जैन समाज में सच्चे तत्त्वज्ञान का प्रचार-प्रसार हुआ। अंत में उन दोनों का समाज ने आभार माना।—पंडित श्री युगलजी

नरसिंहपुर (म.प्र.)—पंडित ब्रह्मचारी निर्मलकुमारजी ने वीतराग-विज्ञान पाठशाला की स्थापना की है, जिसमें अनेक बालक-बालिकायें रुचिपूर्वक पढ़ने आते हैं। सुबह-शाम दोनों समय स्वाध्याय गोष्ठी भी होती है।

प्रकाशक : श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़ (सौराष्ट्र) (३६६)
मुद्रक : मगनलाल जैन, अजित मुद्रणालय, सोनगढ़ (सौराष्ट्र) प्रति २५००